BIBLIOTHECA BUDDHICA. XI.

NYĀYABINDUṬĪKĀṬIPPAṆĪ

ТОЛКОВАНІЕ НА СОЧИНЕНІЕ ДАРМОТТАРЫ

NYĀYABINDUṬĪKĀ.

САНСКРИТСКІЙ ТЕКСТЪ СЪ ПРИМѢЧАНІЯМИ

издалъ

Ѳ. И. Щербатской.

1909

MOTILAL BANARSIDASS PUBLISHERS
PRIVATE LIMITED • DELHI

First Indian Edition: 1992

ISBN: 81-208-0976-9

Also available at:
MOTILAL BANARSIDASS
41 U.A., Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi 110 007
120 Royapettah High Road, Mylapore, Madras 600 004
16 St. Mark's Road, Bangalore 560 001
Ashok Rajpath, Patna 800 004
Chowk, Varanasi 221 001

PRINTED IN INDIA
BY JAINENDRA PRAKASH JAIN AT SHRI JAINENDRA PRESS, A-45 NARAINA INDUSTRIAL AREA, PHASE I, NEW DELHI 110 028 AND PUBLISHED BY NARENDRA PRAKASH JAIN FOR MOTILAL BANARSIDASS PUBLISHERS PVT. LTD., BUNGALOW ROAD, JAWAHAR NAGAR, DELHI 110 007

Предисловіе.

Предлагаемый текстъ комментарія на сочиненіе Дармоттары Nyāyabinduṭīkā изданъ на основаніи только одной рукописи, представляющей собою списокъ, сдѣланный въ Джессалмирѣ, по заказу покойнаго проф. Бюлера, для Bombay Government Collection, во время его перваго путешествія по Индіи въ поискахъ старинныхъ рукописей. Важное значеніе этого текста, какъ для пониманія сочиненія Дармоттары, такъ и для исторіи буддійской философіи вообще, было уже отмѣчено покойнымъ Питерсономъ (см. предисловіе къ изданію Nyāyabinduṭīkā стр. VIII — IX и Journal Bombay Branch Royal Asiatic Society vol. XVII, part. II, стр. 48 и слѣд.).

Списокъ сдѣланъ на 22 листахъ большого формата, довольно небрежно, плохимъ почеркомъ, съ многочисленными описками и вставками. Заглавія нѣтъ, вмѣсто чего впереди текста читаются слова श्रीहरिः, очевидно принадлежащія одному изъ переписчиковъ и, повидимому, указывающія на то что онъ не былъ ни буддистомъ, ни джайномъ. У Бюлера нашъ текстъ носитъ заглавіе Dharmottaravṛtti, но въ спискѣ такого заглавія нѣтъ, и возможно, что оно было сообщено ему въ этой формѣ завѣдывавшимъ Джессалмирской библіотекой, на основаніи того, что по содержанію сочиненіе представляетъ собой комментарій на сочиненіе Дармоттары, которое въ свою очередь, является толкованіемъ на сочиненіе Дармакирти.

Имени автора въ рукописи также не имѣется, равно мы не встрѣчаемъ о немъ никакихъ свѣдѣній или догадокъ ни у Бюлера, ни у Питерсона. Причина очевидно та, что рукопись обрывается немного раньше конца перваго paricchеda, гдѣ должно было, по принятому порядку, стоять имя автора.

Недавно, проф. Шридаръ Бхандаркаръ посѣтилъ Джессалмиръ съ той же цѣлію, съ которой пріѣзжалъ туда, въ свое время, проф. Бюлеръ; ему удалось проникнуть въ большой джайнскій бхандаръ bṛhajjñānakoça. Въ своемъ Report of a Second Tour in search of Sanscrit Manuscripts, made in Rajputana and Central India in 1904—5 а 1905—6 (Bombay 1907), онъ сообщаетъ о немъ слѣдующіе небезъинтересные факты [1]). Со времени посѣщенія Бюлеромъ, бхандаръ, въ продолженіи болѣе 30 лѣтъ, былъ запертъ и никто туда не проникалъ. Самъ Бюлеръ жаловался [2]) на крайнее упорство (very tough) джайновъ Освальскаго панча, которому принадлежитъ бхандаръ; они чинили ему всякія препятствія, и съ большой неохотой позволяли знакомиться съ рукописными сокровищами бхандара. Бюлеру былъ показанъ списокъ, составленный за 90 лѣтъ до его пріѣзда, въ которомъ значилось 422 различныхъ сочиненій. Онъ сразу замѣтилъ, что списокъ былъ неполный, и предположилъ, что, первоначально, собраніе должно было заключать въ себѣ отъ 450 до 460 сочиненій. «Теперь, отъ этого чуднаго собранія», говоритъ онъ, «сохранились лишь остатки; въ немъ еще содержится до 40 связокъ хорошо сохранившихся рукописей на пальмовыхъ листахъ, масса оборванныхъ и разрозненныхъ пальмовыхъ листовъ 4 или 5 маленькихъ ящиковъ съ рукописями на бумагѣ, и нѣсколько дюжинъ связокъ разорванныхъ и безпорядочныхъ бумажныхъ листковъ».

---

1) Стр. 12—13.

2) Ind. Antiquary IV, p. 81—82.

Бхандаркару, при помощи сильныхъ протекцій, удалось увидать, въ томъ же бхандарѣ, до 2200 сочиненій. Очевидно, что Бюлеру было показано далеко не все, что въ немъ хранилось. Въ спискѣ новыхъ рукописей, найденныхъ тутъ пр. Бхандаркаромъ, между прочимъ, значится: Dharmottaraṭippaṇī (i. e. commentary on Dharmottarācārya's Nyayabindu (?)) by Mallavādyācārya. Врядъ ли возможно сомнѣніе въ томъ, что это сочиненіе тождественно съ той Dharmottaravṛtti, списокъ съ которой былъ сдѣланъ по заказу проф. Бюлера. Видъ, въ которомъ, намѣренно, былъ ему представленъ бхандаръ, въ достаточной степени объясняетъ то обстоятельство, что ему попался въ руки лишь отрывокъ сочиненія, безъ заглавія и имени автора. Заглавіе, сообщенное ему не точно по содержанію, доказываетъ, что библіотекарю оно было извѣстно. Наконецъ самый терминъ ṭippaṇī указываетъ на то, что данное сочиненіе является комментаріемъ на комментарій, и трудно предположить существованіе нѣсколькихъ такихъ супер-комментаріевъ на данное сочиненіе въ одной библіотекѣ. Въ нашемъ изданіи заглавіе возстановлено согласно съ такимъ предположеніемъ. Что касается до имени автора, сообщаемаго Бхандаркаромъ, то такое имя, если оно прочитано вѣрно (?)[1], до сихъ поръ нигдѣ не встрѣчалось.

Несомнѣнно, что рукописныя сокровища большого Джессалмирскаго бхандара могутъ разъяснить намъ, какъ этотъ, такъ и многіе другіе вопросы, но для этого намъ остается терпѣливо ожидать благопріятнаго поворота въ отношеніи джайнской іерархіи къ европейской наукѣ.

Проф. Якоби самоотверженно помогалъ намъ въ возстановленіи текста; его тонкой проницательности обязаны мы тѣмъ, что во многихъ, весьма трудныхъ, мѣстахъ удалось добиться исправнаго текста и болѣе или менѣе вѣроятнаго его пониманія.

---

1) Не слѣдуетъ ли читать Mallādyācārya, или Mallāryācārya, что указывало бы на то, что авторъ не былъ буддистомъ?

Академикъ С. Ѳ. Ольденбургъ любезно взялъ на себя трудъ чтенія одной корректуры, и его зоркому вниманію слѣдуетъ приписать отсутствіе въ нашемъ текстѣ не малаго числа всегда возможныхъ и досадныхъ опечатокъ. Обоимъ этимъ лицамъ считаемъ долгомъ выразить нашу глубокую признательность.

Ѳ. Щербатской.

आचार्यधर्मोत्तरकृताया न्यायबिन्दुटीकायाः टिप्पणी।

सर्व एव हि विशिष्टो जनः शास्त्रारम्भे[1] स्वेष्टदेवतास्तुतिं[2] कृतवान्। तथायमेवाचार्यधर्मोत्तरः सदाचारानुवृत्तिमात्मनः ख्यापयन्स्वेष्टदेवतास्तुतेश्च पुण्योपचयं[3] ततश्च शास्त्रस्याविघ्ने परिसमाप्तिं व्याख्यायाः[4] श्रोतॄणां स्तुतिपुरःसरया[5] प्रवृत्त्या पुण्यातिशयोत्पादनात्पाराध्यं[6] चालोच्य[7] बुद्धस्य भगवतः[8] स्तुतिमारब्धवान् ' जयन्तीत्यादि (1. 2)। अनेन श्लोकेन बुद्धस्य भगवत एव पूजा स्तोत्रतः। नान्येषां ' निर्दिष्टगुणोद्भवात्। स्तोत्रमपि स्वपरार्थसंपत्त्यै[9] संभवतीति। पूर्वं स्वार्थसंपदं भगवतो दर्शयति जयन्ति जातिव्यसनेत्यादिना सुगतपर्यन्तेन ' मनस्तमस्तानवेत्यादिना परार्थसंपदम्। जयन्ति जयं कुर्वन्ति वाच इति संबन्धः। कस्य वाच इत्याह। सुशब्दोऽत्र शोभने[10]ऽतिशयेऽपुनरावृत्तौ च वर्तते ऽनेकार्थत्वान्निपा-

---

1) MS. सास्त्रा и 2 буквы не ясны.

2) MS. स्तुते.

3) MS. °पचयस्ततश्च.

4) MS. व्याख्याह.

5) MS. स्तुतिः.

6) MS. °नाद्याराध्यं.

7) MS. बालोच्य बु°.

8) MS. भगवत.

9) MS. संपत्त्या.

10) MS. सोभने.

तानाम्। तदयमर्थः। शोभनं गतः सुगतः सुचरितवत्[1]। अतिशयेन गतः सुगतः[2] सुपरिपूर्णघटवत्। अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः प्रदीपवत्। किंविशिष्टस्य तस्येत्याह। रागाद्यरातेरिति (1.4)। रागशक्तिरादौ[3] स आदिर्येषां द्वेषादीनां ते रागादयो भवन्ति क्लेशाः। तेषामरातिः शत्रुः। यतो भगवता सर्वक्लेशा निःशेषं निर्दग्धा यत एव रागाद्यरातिर्भगवानत एव जगत[4]स्त्रैधातुकजीवलोकस्य विजेता। अनेन स्वार्थसंपत्सोपाया दर्शिता। किंविशिष्टस्य जगतो विजेतुरित्याह। जातिव्यसनेत्यादि (1.2)। व्यसनमनर्थसंजननम्[5]। जातौ व्यसनमिति सप्तमीति योगविभागात्[6]समासः। तत्राभिलाष इति यावत्[7]। देवो ऽहं स्यां[8] मनुष्यो ऽहं स्यामित्यभिलाषः। यद्वा विविध[9]मनेकप्रकारैरास्यते लिप्यत इति व्यसनम्। सामान्येन कर्मसाधनम्। पश्चाज्जातिशब्देन विशेषणसमासः। जातिरेव व्यसनम्। जात्या व्यसनं विशिष्यते। तेन जातिशब्दस्य विशेषणत्वात्पूर्वनिपातः। जातिव्यसनस्य प्रबन्धः प्रवाहः। तस्य प्रसूतिः[10] प्रसवमुत्पत्तिः। तस्या हेतुः कारणं जगतस्य जगतो[11] विजेतुरिति। तत्रायं समुदायार्थः। यस्माच्छोभनादिना गतो भगवानत एव रागाद्यरातिः। यत एव निर्दग्धक्लेशो[12]

---

1) सुचरवत्.

2) Это слово вставлено на поляхъ.

3) MS. रागशक्तिरआदौ (sic!).

4) MS. जगस्त्रै°.

5) MS. व्यसनमनर्थासंजननं.

6) На основаніи Pāṇ. II, 1, 40 нельзя образовать такого *tatpuruṣa*, поэтому авторъ допускаетъ въ этой сутрѣ *yogavibhāga*; тогда на основаніи первой ея части оправдывается образованіе всякихъ *saptamīsamāsa*, вторая же служитъ спеціально для образованія тѣхъ, которые слагаются съ *çauṇḍādi*.

7) MS. यावान्.

8) MS. स्यात्मनुष्यो.

9) MS. विवधम°.

10) MS. प्रस्तुतिः.

11) MS. जगत्तो.

12) MS. निर्दग्द° (sic!).

ऽतो जगतो विनेतेति[1]। किंविशिष्टा वाचो[2] जयन्तीत्याह, मनस्तमइत्यादि (1.5)। मनसो विकल्पविज्ञानस्य। तृष्णाविद्या तम एव। तम इति कृत्वा न गमनतया तमो[3] ऽन्धकारो घटादिप्रतिबन्धं करोति, तथाविद्यापि विपरीतग्राहितया प्रतिबन्धं करोति। तनो[4]र्भावस्तानवम्। इगन्ताच्च[5] लघुपूर्वादित्यण्। मनस्तमसि तानवं षष्ठीसमासो वा वचनप्रमाणो द्रष्टव्यः। मनस्तमस्तानवमादधानास्तनुत्वं कुर्वानाः सकलजनस्य श्रुतिचिन्ताभावनाक्रमेण सुगतस्य वाचः सूत्रा[6]भिधर्मविनयत्रिपिटकस्वभावा जयन्ति। जयः पुनस्तासां तीर्थिकशा[7]स्त्राभिभवलक्षणः। यस्माद्[8]भगवत्प्रवचने प्रमाणपरिच्छिन्न उपायो विमुक्तिलक्षण उपेयश्च निर्दिश्यते तेषां चागम[9] उपायोपेययोः प्रमाणरहितत्वा[10]त्ततो भगवत एव वाचो जयन्ति, नान्येषामिति भगवतः स्तुतिः।

सम्यग्ज्ञानेत्यादिना (1. 5) विनीतदेवव्याख्यां दूषयति, यतो ऽभिधेयस्यैव प्रयोजनं न सम्यग्ज्ञानव्युत्पत्तेः शास्त्रप्रयोजनस्य प्रयोजनम्। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्व्युत्पत्तेः[11] सम्यग्ज्ञानपरिज्ञानस्यैव[12] प्रयोजनम्। सर्वपुरुषार्थसिद्धिः प्रयोजनं येन स्यात्प्रयोजनप्रयोजनं, तेन च प्रयोजनप्रयोजनमाख्यातमिति दूषितं सामर्थ्यात्। अथ कस्मात्प्रकरणस्याभिधेयप्रयोजनमि (1. 6) त्येवमुक्तं, न पुनः प्रकरणस्य शरीरप्रयोजनमित्याह,

---

1) MS. ऽतो तेति; пропущено: जगतो विने.
2) MS. किविशिष्टवाचा.
3) MS. तमे.
4) MS. तेनो°.
5) MS. °मिगन्तच लघु°. v. Pāṇ 5, 1, 131.
6) MS. स्कन्धाभि°.
7) MS. तीथिका शा°.
8) MS. य यस्मा°.
9) MS. चागमने.
10) MS. °रहितत्वा°.
11) MS. सर्वपुरुषार्थसिद्धिव्युप्तत्तेः.
12) MS. °परिज्ञानमेव.

द्विविधं ह्वीत्यादि (1. 6—7)। यतो द्विविधं प्रकरणस्य शरीरं प्रकरणस्य स्वभावः तस्मादभिधेयेति विशेषणं कृतम्। ननु यथाभिधेयस्य प्रयोजनं चिन्त्यते तथा शब्दस्यापि किमिति न चिन्त्यत[1] इत्याह' तत्रेत्यादि (1. 7)। तत्प्रतिपत्तय (1. 8) इत्यभिधेयप्रतिपत्तये। संदर्भो रचनाविशेषः। अपिशब्दादर्थसंदर्भो ऽपि गृह्यते। परीक्षेति परीक्ष्यते ऽनयेति परीक्षा शास्त्रमुच्यते। अनेने- (1. 10) त्यादिवाक्येन। यस्मादित्यादिना समुदायार्थं दर्शयति' अत्रेत्यादिवाक्येन। ननु च यत्राभिधेयप्रयोजनं प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यङ्गं तथा संबन्धादीन्यपि। अतस्तानि किमिति न कथ्यन्त[2] इत्याह' अस्मिन्न- (2. 3) भिधेयप्रयोजने कथिते तान्यपि सामर्थ्यात्कथितानि भवन्तीत्यर्थः। अभिधेय एव भागो ऽंशः संबन्धादिराशेः। तस्य प्रयोजनं कथयतीत्यर्थः। तद्दर्शयति। अभिधेयप्रयोजनमेव साक्षाद्वाच्यतया निर्दिश्यते' अभिधेयादीनि तु तद्विशेषणतया। चोदकेन प्रधानवाच्यतयाभिधेयादीन्यपश्यता[3] चोदितम्। सामर्थ्यायाततया परिहृतं सिद्धान्तवादिना। न चैकेन वाक्येनार्थत्रयं साक्षाच्छक्यते[4] दर्शयितुमिति दर्शयति' नन्विदमित्यादि (2. 6)। एकं त्वित्यादि (2. 7) वाक्यं प्राधान्येनैकं[5] वदद्भिधेयव्युत्पत्तिप्रयोजनसंबन्धार्थत्रयं प्रतिपादयति' तत्र तदित्यादिना (2. 7)। अपोद्धारेणावयवार्थं[6] दर्शयति तत्रेत्यादिवाक्ये। ननु च तद्व्युत्पत्तिः क्रियत[7] इत्येवं युज्यते वक्तुं' किमिति[8] तद्व्युत्पाद्यत इति णिचा[9] निर्देश इति। तत्फलमाह' प्रयोजनं चात्रेत्यादि (2. 8)। अत्रेति प्रकरणे वक्तुरिति शास्त्रकर्तुः[10] श्रोतुश्च[11] प्रकरण-

1) MS. न चिंत्य इत्याह.
2) MS. कथ्यतेत्याह.
3) MS. °दीन्यपश्यतया चोदितं.
4) MS. साक्षाश्शक्यते.
5) MS. प्रधान्येन.
6) MS. °नापोद्धारणावयवार्थ.
7) MS. क्रियतेति.
8) MS. वक्तुकिमिति.
9) MS. णिचा.
10) MS. °कर्तु.
11) MS. श्रोतृश्च.

करणश्रवणव्यापारस्य प्रयोजनं चिन्त्यते । यस्माद्द्वयोरपि वक्तृश्रोत्रोस्तत्र[1] प्रकरणे प्रकरणकरणश्रवणाख्यौ[2] व्यापारौ स्तः । किमिति पुनस्तयोः करणश्रवणयोः प्रयोजनं चिन्त्यत इत्याह ' तथाहीत्यादि[3].(2. 9) । तत[4] आचार्येणेत्यादिना (2. 10) द्वयोर्व्यापारस्य प्रयोजनं दर्शयति ' यस्मादनेन सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यत इत्यत्र वाक्ये (1. 1) व्युत्पत्तिक्रियानिष्पत्तौ[5] करणश्रवणक्रियाद्वयकर्तव्यतया प्रविष्टम्[6] । तच्च व्युत्पत्तिकरणं शास्त्रकारस्यैव नान्यस्येति णिचा निदर्शितम्[7] । यस्मात्सम्यग्ज्ञानं व्युत्पाद्यमानाञ्छिष्यान्[8]प्रेरयति ' व्युत्पादितं सम्यग्ज्ञानं व्युत्पद्यध्वमित्यात्मानं[9] व्युत्पादकं कर्तुमारब्धं प्रकरणम् । तस्माद्वक्तुरेव करणव्यापारस्य प्रयोजनं व्युत्पादनं ' न भाजनादीनाम्[10] । यद्यपि तैर्विना व्युत्पादनं न भवति तथापि न तानि व्युत्पादकानि ' तेषां शिष्यविषये प्रेरकत्वाभावात् । शिष्यैश्चेत्यादि (2. 12) यस्माच्छिष्या आचार्यप्रयुक्तां व्युत्पत्तिमात्मनः संबन्धिनीं कर्तुमिच्छन्ति[11] यतस्ते प्रचोद्यास्[12]तस्मात्तत्प्रकरणं तैः श्रूयत इति[13] श्रवणस्य प्रयोजनं व्युत्पादनम् । एतच्चार्थद्वयं णिचा प्रतिपादितम् । अन्यथासाधारणव्यापारो[14] वक्तुर्व्युत्पत्तौ न दर्शितः स्यात्[15] ' शिष्याणां च श्रवणव्यापारश्च । यस्मात्सर्व एवं प्रयोजकप-

---

1) वक्तृश्रोत्रस्तव.
2) MS. °करणश्रवणाख्यो.
3) Послѣ это въ MS. 14 буквъ зачеркнуто.
4) MS. तत्राचार्येण.
5) MS. °निष्पन्नौ (?).
6) MS. प्रविष्ट.
7) MS. निदर्शति.
8) MS. °पाद्यमानात् शिष्यान्...
9) MS. व्युद्ध्यपद्यं (?).
10) MS. भोजनादीनां.
11) MS. कुर्तुमि°.
12) MS. प्रयोद्यास्त°.
13) MS. श्रूपतेति.
14) MS. °व्यापारे.
15) MS. स्यान् (?).

रतन्त्रो भवति । असति णिचि शिष्या अप्रयोज्याः । ये चाप्रयोज्याः ते स्वतन्त्राः । स्वतन्त्राणां चाचार्यप्रयुक्तां[1] व्युत्पत्तिमनिच्छतां श्रवणाभावात्कथं श्रवणव्यापारस्य प्रयोजनं चिन्त्यत इति स्थितम् । ननु च यथाभिधेयव्युत्पादनप्रयोजनयोरुपोद्धारेण प्रतिपादकपदं कथं संबन्धस्यापि किमिति न कथितमित्याह । संबन्धप्रदर्शनपदं त्वित्यादि (2.13)। अयमेव प्रकरणविशेषो लघूपायतया वक्ष्यमाणया नीत्योपायो व्युत्पादनमुपेयम् । उपायोपेयसंबन्धश्च कार्यकारणसंबन्ध एव । स च प्रतीयत इति[2] न पदान्तरेण कथितः । तथा चोक्तं शास्त्रं प्रयोजनं चैव । संबन्धस्याश्रयादुक्तौ[3] तदुक्त्यन्तर्गतः । तेन भिन्नो नोक्तः प्रयोजनादिति[4]।

एवमादिवाक्येनाभिधेयप्रयोजनादौ कथिते सति प्रामाणिकानां प्रवृत्तौ तदसंगतमेवेति[5] मन्यमानश्चोदयति नन्वित्यादिना (2.16)। एवं मन्यते । यो हि प्रामाणिकः स प्रमाणे प्रवर्तते । न चादिवाक्ये प्रयोजनादिना कथितेन शास्त्रश्रवणात्प्राग्वर्तते शास्त्रं[6] । आदिवाक्यस्याप्रामाण्यात् । अप्रामाण्यं चार्थेन सहासंबन्धाच्छब्दस्य[7]। एतैरित्यभिधेयादिभिः[8]। आरम्भप्रदेशोक्तैरिति[9][10] प्रकरणस्यैकदेशोक्तैरादावुक्तैरित्यर्थः[11][12][13]। उक्तेष्वित्यादि

1) MS. प्रयुक्तं.
2) MS. प्रतीयतेति.
3) MS. °डुक्तौ.
4) MS. प्रयोजनादेति.
5) MS. तदसंगत°.
6) MS. शास्त्रे.
7) MS. °संबन्धात् शब्दस्य.
8) MS. °भिधेयादिहि.
9) MS. пропускаетъ आरम्भ°.
10) MS. प्रदेशोक्तिरिति.
11) MS. व्यकरणस्यै°.
12) MS. °देशोक्तेरा°.
13) MS. °दावुक्तेरित्यर्थः.

(2. 18) । एवं मन्यते । यद्यस्याप्रमाणं प्रयोजन[1]प्रतिपादकमादिवचनं तथापि शास्त्रादौ प्रतिपादनीयं । अर्थसंशयजननार्थम् । [2]यो हि सम्यग्ज्ञानार्थी[3] स तथाभूतं शास्त्रकर्त्रादिवाक्यं श्रुत्वा तत्र संशेते । संशयाच्च प्रवर्तत इति तात्पर्यम् । **अत एवेति** (2. 19) । यत एवादिवाक्येनार्थसंशयः संशयाच्च प्रवृत्तिरत एव शास्त्रकारेणैव युज्यते[4] वक्तुं नाख्यानकर्त्रेति । तेन यदुक्तं केनचिद्व्याख्यानकारा एव प्रयोजनादीनि प्रतिपादयिष्यन्तीति तत्प्रत्युक्तम् । **उत्पश्याम** (2. 21) इत्यादिनैतद्दर्शयति । यद्यपि प्रमाणं नास्ति । महता प्रबन्धेन शास्त्रकरणात्संभाव्यत इत्यर्थः । ननु च बाधकसाधकप्रमाणाभावात्सम्यग्ज्ञानव्युत्पत्त्यर्थी[5] विनाप्यादिवचनेन संशयानस्तत्र प्रवर्तत इति किमादिवाक्येन तत्रोक्तेनेत्याह । **अनुक्तेष्वित्यादि** (2. 22) । एवं मन्यते । यो ह्यमूढस्तं प्रति न कर्तव्यमेव । यो हि काकदन्तपरीक्षादिशास्त्रं दृष्ट्वा प्रयोजनादिरहितं । अत्राप्यप्रयोजनादीन्संभावयन्ननर्थं संशेते । अनर्थसंशयाच्च न प्रवर्तते । तं प्रत्येतत्कथनस्य प्रयोजनम् । कथिते च वचने शास्त्रकारेण तदनुरोधाद्वचनादर्थसंशयो जायते । ततः प्रवर्तत इत्यर्थः । अनर्थसंशयो यैः कारणैर्भवति तन्निदर्शयति[6] **निष्प्रयोजनमित्यादिना** (2. 22) । अतो वा प्रकरणादन्यस्य प्रकरणस्य लघुतरोपायतां[7] संभाव्यास्य प्रकरणस्यासारतया[8] अनुपायता स्यादित्यर्थः ।

एवं समुदायेन वाक्यस्य तात्पर्यं व्याख्यायावयवार्थं[9] दर्शयितुमाह । **अविसंवादकमित्यादि** (3. 5) । अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति ब्रुवता टीकाकृतार्थावबोधकं

---

1) MS. यद्यस्य प्रमाणं प्रयोजनं प्रति°.
2) MS. या.
3) MS. °ज्ञानार्थ.
4) MS. प्रयुज्यते.
5) MS. व्युत्पथी.
6) MS. निदर्शति.
7) MS. लघुतयोपायतां (?).
8) MS. प्रकरणस्यासाया.
9) MS. °यावयवार्थदर्श°.

ज्ञानं मीमांसकपरिकल्पितमर्थदर्शनं च चार्वाकोपकल्पितमथापि विपरीतं ज्ञानं कैश्चित्परिकल्पितं सम्यक्त्वेन तन्निरस्तं सर्वं । एतेषां सम्यग्ज्ञानलक्षणाभावात् । यथा च न तानि सम्यग्ज्ञानानि तथा स्वयं टीकायामपहस्तितानि[1]। एकस्मिन्नेवार्थे त्रयाणां ज्ञानानां प्रदर्शकप्रवर्तकप्रापकभेदेन प्रामाण्यमिष्टं परेण । तन्निराकर्तुमाह । **प्रदर्शिते चार्थे** इत्यादि (3.6) । प्रदर्शिते चार्थे प्रथमेन दर्शकेन ज्ञानेन । यद्द्वितीयं ज्ञानं तत्रैवार्थे पुरुषस्य प्रवर्तकं । तृतीयमपि तत्रैवार्थे प्रापकं । ततो नाद्यादधिकं प्रापणयोग्यीकरणेनेति[2] तदेव प्रमाणम् । अमुमेवार्थं समर्थयति **तथाहीत्यादिना** (3.7) । **न ह्यनयन्नोत्पादयदर्थं** । स्वहेतोरेवार्थस्योत्पन्नत्वात् । अनेन प्रवर्तकात्प्रा[3]पकस्याभेदो दर्शितः । प्रवर्तकस्यापि प्रदर्शकादभेदं दर्शयितुमाह । यत्प्रदर्शकमादावुत्पन्न[4]मर्थे ज्ञानं तदेव प्रवृत्तिविषयं करोति प्रवृत्तिविषययोग्यीकरोतीत्यर्थः । न तु द्वितीयं ज्ञानं । आद्येनैव प्रवृत्तिविषययोग्यीकृतत्वात् । **अपिशब्दः** (3.8) पूर्वापेक्षः । **अत एवेत्यादिना** (3.9) आचार्यग्रन्थे स्वमतं संवादयति । कुतो ऽयं लभ्यते यदा प्रथमं दर्शयत्येव न प्रवर्तयति न प्रापयति । द्वितीयमपि प्रवर्तयत्येव न प्रापयति । एवं सत्यन्यत्प्र[5]दर्शकप्रमाणं । अन्यत्प्रवर्तनादिकफलम् । न चैवम् । तस्माद्युक्तमुक्तम्[6] । ननु च यद्यप्यर्थाधिगतिरेव प्रमाणफलं तथापि यावदुत्तरे प्रवर्तकप्रापकज्ञाने न भवतस्तत्रार्थे तावन्न प्रमाणव्यापारपरिसमाप्तिरित्याह । **अधिगत** (3.9) इत्यादि[7]। एवं मन्यते । अधिगते चार्थे समाप्तः प्रमाणव्यापार इति तयोः प्रामाण्ये कर्तव्ये ऽनुपयोगित्वम् । अतो ऽप्रमाणे ते[8]। कथं समाप्तः प्रमाणव्यापारः को वासावि-

---

1) MS. अपहसितानि.

2) MS. प्रापणायोग्याकर°, вѣроятно вм. प्रापणविषययोग्यीकरणेन; ср. ниже 8. 10: प्रवृत्तिविषययोग्यीकरोति.

3) MS. °र्तकान्प्रापक° (?).

4) MS. °मादाव्युत्पन्न°.

5) MS. °न्यत्र प्रदर्शक°.

6) MS. व्युक्तमुक्तन्.

7) MS. अधिगतेत्यादि.

8) MS. अप्रमाणाते.

त्वाह्[1]। स्वव्यापारः स्वविषयनिश्चयजनकत्वं नाम। स च निश्चयः प्रथमया[2] चार्थाधिगत्या कृत इति समाप्तो व्यापारस्तावतैव पुरुषस्य प्रवृत्तेः। अतो द्वितीयादीनामत्रैवार्थे ऽधिको व्यापारो नास्तीति। अधिगतगन्तृत्वाद[3]प्रामाण्यमित्यर्थः। **प्रवर्तितः पुरुष** (3.11) इति' प्रवर्तनयोग्यत्वात्प्रवर्तित[4] इत्युच्यते' प्रापणयोग्यत्वात्प्रापितः। एवं सामान्येन संवादकं[5] सम्यग्ज्ञानं प्रतिपाद्य विशेषेण च प्रत्यक्षानुमाने स्वव्यापारं[6] कुर्वती सम्यग्ज्ञाने भवत इति दर्शयन्नाह' **तत्र यो ऽर्थ** (3.12–13) इत्यादिना। तत्र तयोर्मध्ये प्रत्यक्षस्य व्यापारं दर्शयति। दृष्टत्वेन ज्ञातो दृष्टत्वेन निश्चितः। विकल्पेनानुगम्यत इति तत्पृष्ठ[7]भाविना[8] विकल्पेनावसीयते। एतदुक्तं भवति। प्रतिभाससमानार्थ[9]व्यवसायं कुर्वत्प्रत्यक्षं प्रमाणं संवादकमित्यर्थः[10]। **अनुमानं त्वित्यादिना** (3.15) अनुमानस्य प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। लिङ्गदर्शनं लिङ्गज्ञानम्। तच्च वह्न्यव्यभिचारिधूमनिश्चयनं सामन्येन साध्याविनाभावि च स्मरणज्ञानम्। यथा धूमं प्रत्यक्षेण गृहीत्वा सर्वत्रायं वह्निज इति स्मरणं तस्माल्लिङ्गज्ञानान्निश्चिन्वत्प्रवृत्तिविषयं दर्शयति। तदनुमानं विशिष्टसंबन्धेन यदुदेति ज्ञानं यथात्रत्यो धूमो वह्निज इति ज्ञानम्। एतदुक्तं भवति। प्रत्यक्षस्य स्वविषयनिश्चयजननव्यापारो ऽभिन्नः[11]। अनुमानस्य तु लिङ्गदर्शनात्स्वविषये निश्चयात्मनोत्पत्तिरेव नि-

---

1) MS. को वाचनाञ्च स्वव्या°.

2) MS. प्रथमये.

3) MS. °गदृत्वाद्° (?); вѣроятно намекъ на извѣстное опредѣленіе प्रमाणमनधिगतार्थाधिगन्तृ.

4) MS. प्रवर्तितेत्युच्यते.

5) MS. संपादकं.

6) MS. °नुमानेषव्यापारं.

7) MS. तमृष्ठ°.

8) MS. °भावनी.

9) MS. °भाससमानार्थाव्यवसायं.

10) MS. संवादिकं.

11) MS. व्यापारोभिन्न.

अयव्यापार इति । तथा चेत्यादिना (3. 15) अनयोर्दर्शितं व्यापारं स्पष्टयति । अत एते प्रमाणे । नान्यद्विज्ञानमित्येवं (3. 16–17) ब्रुवतैते एव सम्यग्ज्ञाने नान्यानि शब्दादीनि, तेषां नियतार्थानुपदर्शकत्वादिति सम्यग्ज्ञानस्य प्रवृत्तिः दर्शिता । यथैते प्रमाणे संशयादिज्ञानं न तथा प्रमाणम्[1] । प्राप्तुं प्रवर्त्यमित्यादिना (3. 17) दर्शयति । एतदुक्तं भवति । यथा प्रत्यक्षानुमाने स्वेन स्वेन प्रमाणेनोपदर्शितार्थस्य[2] प्रापके न तथा संशयविपर्ययज्ञाने[3] तथाभूतस्यार्थस्याभावादिति ।

ननु च मा भूत्संशयविपर्ययज्ञानयोः प्रामाण्यं तथाभूतस्यार्थस्यासत्त्वादिति, यत्पुनरिह कूपे जलमिति ज्ञानं तत्प्रमाणान्तरं किमिति न भवति । न तावत्प्रत्यक्षं, तत्र जलस्य परोक्षत्वात् । नाप्यनुमानं, लिङ्गाभावात् । नापि संशयरूपं, उभयांशाभावात् । नापि विपरीतं, विपरीतार्थाभावात्[4] । इत्याशङ्क्याह, सर्वेण चालिङ्गेनेत्यादि (3. 21) । एवं मन्यते । यद्यपि[5] साक्षात्संशयज्ञानं न प्रतीयते यस्तु[6] संशयः विकल्पकस्य ज्ञानस्य, इह कूपे जलमित्येवंजातीयस्य, तथापि[7] नियामकं[8] लिङ्गमन्तरेण तदप्रमाणं[9] नियतार्थापरिच्छेदात्[10] । ततश्चायमर्थः, स्यात्कदाचित्कूपे जलमिति, यच्चैवंरूपं तत्संशयज्ञानमेवेत्यप्रमाणम् । यत्पुनस्तत्र प्रवृत्तेन कदाचिज्जलं लभ्यते तज्ज्ञानान्तरादिति[11] विनिश्चयटीकायां प्रतिपादितम् । ननु च यद्यपि संशयादीनामुपदर्शिता-

---

1) MS. न प्रमाणं तथा.

2) M. пропуск. слово प्रमाणेन.

3) MS. °ज्ञानो.

4) MS. विपरीतार्थभावात्.

5) MS. यद्यापि.

6) MS. यो स्तु.

7) Слова तथापि въ MS. пропущены.

8) MS. नियमक.

9) Слова तदप्रमाणं въ MS. пропущены.

10) MS. नियमार्थ°.

11) MS. लभ्यते वङ्गानांतरा°; м. б. слѣдуетъ читать चिह्नान्तरा° (?).

र्थस्य प्रापकत्वं नास्ति किं तानि न व्युत्पाद्यन्त इत्याह, अर्थक्रियार्थिभिश्चेत्यादि (3.23)। पुरुषार्थसिद्धावनुपयोगादि[1]त्यभिप्रायः। ननु च यद्युपदर्शितार्थ[2]प्रापकस्य[3] प्रमाणं सम्यग्ज्ञानं शुक्लशङ्खे पीतज्ञानं कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभायां मणिज्ञानं अर्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं च प्रमाणं प्राप्नोतीत्येभिरुपदर्शितस्यार्थमात्रस्य प्राप्तेस्ततश्च सम्यग्ज्ञानमित्याशङ्क्याह, अर्थाधिगमात्मकं हीत्यादि (4.1)। एवं मन्यते। एभिरुपदर्शितस्यार्थस्य पीताकारस्य, कुञ्चिकाविवरस्थस्य मणेर्नियतदेशस्य, नियतकालस्य चार्धरात्रे ऽप्रापणात्, देशकालव्यतिरिक्तस्यावयवादेरभावात्[4], अत एव तान्यप्रमाणान्येव न सम्यग्ज्ञानानीति। यदप्येतान्यभ्रान्तग्रहणस्य व्यावर्त्यानि तत्रैवाभ्रान्तग्रहणप्रस्तावे दर्शयितव्यानि तथापीह सम्यग्ज्ञानव्यावर्त्यप्रस्तावात्कथितानीत्यदोषः। ननु चेत्यादि[5] (4.8)। एवं मन्यते चोदकः[6]। देशाकाराभ्यां नियतस्य प्राप्तुं शक्यत्वाद्भवत्वन्याकारस्यान्यदेशस्य च प्राप्तावप्रमाणम्। न त्वन्यकालस्य, नियतकालस्य चाप्राप्तेः क्षणिकत्वाद्भावानाम्। ततश्च यथा सत्यनीले नीलज्ञानस्यान्यो[7] ग्राह्यकालो ऽन्यश्च प्राप्यकालः, अथ च कालभेदे ऽपि प्रामाण्यं, तथा स्वप्नज्ञानस्यार्धरात्रोपदर्शित[8]मध्याह्नकालपुत्रप्रापणस्य प्रामाण्यं [9]भविष्यतीति। नोच्यत इत्यादिना (4.9) सिद्धान्तवादी त्वेवं मन्यते। सत्यं क्षणभेदेन वस्तुनो भेदो ऽस्त्येव, किं तु क्षणापेक्षया न प्रामाण्यलक्षणमुच्यते, अपि तु संतानापेक्षया। ततश्च नीलादौ य एव संतानः परिच्छिन्नो नीलज्ञानेन स एव तेन प्रापितः। तेन प्रमाणं नीलज्ञानम्। न तथा

---

1) MS. °वनुपोगादि°.

2) MS. °पदर्शतार्थ°.

3) MS. °प्रापणान्प्र°.

4) MS. °स्यावयवव्यादेरभावत्.

5) Въ нашемъ текстѣ нѣтъ च послѣ ननु.

6) MS. चोदकदेशा°.

7) MS. ज्ञानस्यान्या ऽग्राह्य°.

8) MS. °स्यार्धरात्र उपदपित°.

9) MS. प्रामाण्यं तथा स्वप्नज्ञानस्य भविष्यतीति.

स्थूलकालभेदेन प्रदर्शितस्य पुत्रस्य स्वप्नज्ञानम्[1]। न प्राप्तिकालभेदेन संतानैक्याध्यवसायायोगात् । **संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमि**(4. 11)त्यनेन निश्चयप्रवृत्त्योर्हेतुहेतुमद्भावं दर्शयति। स च हेतुहेतुमद्भावः कथं भवति ‘ यदि संतानापेक्षया प्रामाण्यमवतिष्ठते ‘ न क्षणापेक्षयेति।

सम्यग्ज्ञानं पूर्वं कारणं यस्याः (4. 12.) । कथं पूर्वशब्दः कारणे[2] वर्तत इत्याह ‘ **कार्यादित्यादि** । कारणशब्द एव कस्मान्न कृत इत्याह ‘ **कारणशब्द** (4. 13) इत्यादि। किमनन्तरकारणं ज्ञानं संभवति यदपेक्षया व्यवहितस्य ग्रहणार्थं[3] पूर्वशब्दग्रहणं कृतमित्याह ‘ **द्विविधमित्यादि** (4. 13—14)। ननु किमुच्यते ‘ अर्थक्रियानिर्भासं ज्ञानमनन्तरं कारणं ‘ न हि तत्कारणज्ञानं[4] ‘ किं तर्हि फलज्ञानम्। एवं तु युज्यते वक्तुं ‘ यत्साधननिर्भास्यनन्तरं ज्ञानमर्थक्रियानिर्भासज्ञानमुपजनयति तत्साधनज्ञानमनन्तरकारणमित्युच्यते । तदेवात्राभिप्रेतमर्थक्रियानिर्भासशब्देन । कथं । अर्थक्रिया या निर्भासः प्रतिबिम्बनं ‘ तदाकारज्ञानोत्पत्तिर्यस्मादनन्तरज्ञानात्तत्साधनज्ञानं ‘ तदर्थक्रियानिर्भासं साधनज्ञानम्। एवमत्रापि[5] समासः कर्तव्यः। अथवार्थक्रियाज्ञानमेवानन्तरकारणं तत्प्रापितहेयोपादेयानुष्ठानव्यवहारापेक्षया[6] प्रवर्तकमिति व्यवहितं साधननिर्भासज्ञानम्। यद्येवमनन्तरमेव किमिति न परीक्ष्यत इत्याह ‘ **यत्रैव हीत्यादि** (4. 17)। यत्रैव ज्ञाने ऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रवर्तके पुरुषस्य संदेहस्तदेव परीक्ष्यते ‘ न चानन्तरसाधनज्ञाने संदेहस्तदनन्तरं सुखदुःखप्रतिभासज्ञानोदयात् । तयोरनुभवे सति साधनज्ञानात्प्रवर्तितुं वा युज्यत इति न परीक्षार्हं ‘ यद्वार्थक्रियानिर्भासस्यानया युक्त्या न परीक्षार्हत्वमिति।

---

1) MS. स्वप्नज्ञानेन प्राप्ति°.

2) MS. कारण वर्तते इत्याह.

3) MS. ग्रणार्थं.

4) तत्काणज्ञानं.

5) MS. °मत्ररत्रापि (?).

6) MS. °व्यवहारोपेक्षया.

अर्थ्यत (4.21) इत्यादि । अर्थ यञ्चायामित्यस्य कर्मणि घञ्[1] । अर्थत इत्यपि द्रष्टव्यम्[2] । उपलक्षणार्थत्वादस्यार्तेरौणादिकः[3]स्थन्प्रत्ययः । हेयोर्थ इत्यादिना[4] विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता । तेन ह्येवं व्याख्यातं, अर्थशब्देन प्रयोजनमुच्यते, पुरुषस्य प्रयोजनं दारुपाकादि । तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिरिति । तच्चायुक्तं, यस्मादर्थस्य दारुपाकादेर्न सम्यग्ज्ञानान्निष्पत्तिः । किं तर्हि स्वहेतोरेव वह्न्यादेः[5] । धर्मोत्तरव्याख्याने[6] तु हेयोपादेयार्थविषया या सिद्धिरनुष्ठितिः सा सम्यग्ज्ञानपूर्विकेति न दोषः । अमुमेवार्थं दर्शयिष्यति, हेयस्य च हानमनुष्ठानम् (4.24) । ननु च हेयोपादेयाभ्यामन्यो ऽप्युपेक्षणीय अस्ति । तस्य किमिति न कथनमित्याह, न च हेयेत्यादि (4.22) । एवं मन्यते । सत्यं । अस्ति । किं तु तस्यानुपादेयत्वाद्धेयत्वमेवेति न पृथक्कथनम् । तेन यदुक्तं कैश्चिद्धेयोपादेययोः पुरुषार्थोपयोगित्वात्कथनं, उपेक्षणीयस्य तद्विपर्ययान्न कथनमिति तत्प्रत्युक्तम् । अमुमेवार्थं व्याचष्टे । उत्तरेण ग्रन्थेन सर्वशब्द (5.2) इत्यादिना टीकाकृतां व्याख्यां दूषयति । विनीतदेवशान्तभद्राभ्याम्[7]एवमाशङ्क्य व्याख्यातम् । कथमाशङ्कितम् । न तु सर्वा[8] हानोपादानार्थसिद्धिः[9] सम्यग्ज्ञानादेवापि तु मिथ्याज्ञानादपि काकतालीयेत्याशङ्क्य परिहृतम् । सत्यं, अस्ति । किं त्वेवं व्याख्यायते । सर्वशब्दो ऽयं प्रकार-

---

1) MS. घञ् (?).

2) Авторъ повидомому сомнѣвается можно-ли образовать *artha* отъ корня *arth* по Pāṇ. 3. 3. 16—19, и потому предлагаетъ другое производство отъ корня *ṛ* съ *uṇādi*-суффиксомъ *than*. По Pāṇ. 3. 3. 19 *artha* должно было бы имѣть значеніе «желаніе», а не «объектъ желанія», оттого прибавлено *karmaṇi ghaṇ*. Cp. Uṇādisūtra, II. 4.

3) MS. °दस्य अर्तिरौणादिकः.

4) MS. इत्यादित्यादिना.

5) MS. वन्ह्यादेः (sic!).

6) MS. धर्मोत्तर व्याख्याते (?).

7) MS. °शांतरुद्रात्यामे° (?).

8) MS. सवा.

9) MS. °पादानातर्थसिद्धिः, м. б. слѣдуетъ читать °पादानतो ऽर्थ°.

वाची । तेनायमर्थः । सर्वपुरुषार्थसिद्धिः द्विप्रकारा हानोपादानार्थसिद्धिलक्षणा । लौकिक[1]लोकोत्तरार्थसिद्धिलक्षणा सम्यग्ज्ञाननिबन्धना बाहुल्येनेति[2] । तद्दूषितम् । यस्मात्सर्वशब्दो ऽत्र द्रष्टव्यः । कार्त्स्न्ये वर्तते । सर्वं ब्रह्मणा सृष्टमिति । तेनायमर्थः । यावती कृत्स्नार्थसिद्धिर्हानोपादानलक्षणा सर्वा सम्यग्ज्ञानादेव । न मिथ्याज्ञानात् । मिथ्याज्ञानादर्थ[3]प्राप्त्यसिद्धेरिति । अमुमेवार्थमनन्तरेण ग्रन्थेन दर्शयति । **द्विप्रकारापी**त्यादिना (5.3) परव्याख्यां दर्शयति । **अपि त्वयमर्थ** इत्यादिनात्मीयां व्याख्याम् । **ततो यावद्रूयादि**[4](5.9)त्यादिनोपसंहारव्याजेनैवशब्देन प्रयुक्तेना[5]वधारणार्थवाचिना यावानर्थस्तावानेव सर्वशब्देन प्रयुक्तेन कृत्स्नार्थवाचिना भवतीति दर्शयति । ननु बहुव्रीहिणा पुरुषार्थसिद्धिरुच्यते तस्याः प्राधान्यात्तच्छब्देन संबन्धो युक्तो न सम्यग्ज्ञानस्येत्याह । **यद्यपी**त्यादि (5.11) । एवं मन्यते । शब्दार्थो हि द्विविधः शाब्दः प्रतिपाद्यश्च । शाब्दापेक्षया[6] चोद्यं प्रतिपाद्यापेक्षया परिहृतम् । सम्यग्ज्ञानस्यैव व्युत्पाद्यतया प्रस्तुतत्वादि[7]तरस्याः सिद्धिस्तद्विपर्ययादिति । ननु च किमिदं ज्ञानस्य व्युत्पादनं । किं ज्ञानस्योत्पादनमुत दोषापनयनमथ स्वरूपकथनमिति । न तावदुत्पादनमनेन प्रकरणेन क्रियते । स्वहेतोरेवोत्पत्तेः[8] । नापि दोषापनयनम् । न ह्यनेन प्रकरणेन दोषो ऽपनेतुं शक्यते । अकारकत्वादस्य । नापि ज्ञापयितुमविद्यमानत्वाद्दोषस्य । नापि स्वरूपकथनं युज्यते निष्प्रयोजनत्वात्प्रकरणस्येत्याशङ्क्याह । **व्युत्पाद्यत इति** (5.14) **विप्रतिपत्तिनिराकरणेनेति** । एवं मन्यते । विप्रतिपत्तिनिराकरणद्वारेण सम्यग्ज्ञानस्वरूपं ज्ञाप्यते

---

1) MS. लोकिकोलोकांतरा°.
2) MS. वाहुल्येन.
3) MS. °दर्थ्यप्रा°.
4) MS. यावद्रूपदि°.
5) MS. प्रत्यक्तेना°.
6) MS. शाब्दापेक्षया.
7) MS. प्रस्तुत्वादि°.
8) MS. °रेवोत्पत्तिः.

ऽनेन प्रकरणेनेति । वक्ष्यमाण[1]लक्षणयुक्तं सम्यग्ज्ञानं नान्यलक्षणयुक्तमिति स्वरूपकथनम् । तामेव विप्रतिपत्तिं क्रमेण दर्शयति । चतुःप्रकारा संख्या[2]लक्षणेत्यादिना (5. 15) । तथे[3]त्यादिना संख्याविप्रतिपत्तिनि[4]राकरणं दर्शयति । अनेकप्रकारा पुनः सम्यग्ज्ञानस्य विप्रतिपत्तिः । तथा हि मीमांसकाः प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणं षट्ख्याख्यायुक्तं सम्यग्ज्ञानं मन्यन्ते । नैयायिकाश्चतुःसंख्यायुक्तं प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानलक्षणं मन्यन्ते । चार्वाकास्तु केचित्प्रत्यक्षमेवैकमिति । तन्निरासेन दर्शयति द्विविधमिति (5. 18) । ननु च सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणे कथिते सति पश्चात्तद्भेदः प्रदर्शयितुं युज्यते । इत्थंभूतलक्षणं सम्यग्ज्ञानं द्विविधमिति । तत्किमित्यादावेव प्रदर्शितमित्याह । व्यक्तिभेदे चेत्यादि (5. 19) । एवं मन्यते । सत्यमेवमेव । किं त्वत्र संख्याभेदे ऽकथिते सम्यग्ज्ञानस्य लक्षणमेव न[5] शक्यते कथयितुं । यतः प्रत्यक्षस्यान्यल्लक्षणमनुमानस्य चान्यत् । संख्याभेदे तु कथिते लक्षणं प्रतिनियतं शक्यते कथयितु[6]मित्यतो लक्षणाङ्गमेवादौ संख्याभेदकथनमिति । ननु च प्रत्यक्षमनुमानं चेति निर्देशाद्द्विविधमिति लब्धम् । किमर्थं द्विविधग्रहणम् । उच्यते । द्विविधमेव सम्यग्ज्ञानमित्यवधारणार्थं[7] । तेनैकत्रिचतुरा संख्या निरस्ता स्यात् । असति द्वित्वकथने प्रत्यक्षानुमाने तावत्संभवतो ऽन्यान्यपि प्रमाणा[8]नि भविष्यन्तीति स्यादाशङ्का । प्रतिगतमक्षमित्यादिना (6. 2) गतिसमासं दर्शयति । अक्षमक्षं प्रति प्रत्यक्षमित्यव्ययीभावसमासः कस्मान्न प्रदर्श्यते ऽयं समासः । यतो ऽव्ययीभावश्चेन्न[9]पुंसकलिङ्गता स्यात्प्रत्यक्षस्य । ततश्च प्रत्यक्षा बुद्धिः प्रत्यक्षो घट इति न स्यात् । इदमेव

---

1) MS. वन्त्यमाण°.

2) MS. संता, но сверху исправлено संख्या.

3) Въ нашемъ текстѣ तत्र вмѣсто तथा.

4) MS. °विप्रतिपत्तिः निरा°.

5) MS. это слово пропущено.

6) MS. कथियतुं.

7) MS. त्यवधारणार्थ.

8) MS. प्रमाणेनि.

9) MS. °यीभावश्चेति न°.

स्यात्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रत्यक्षं कुण्डं चेति। गतिसमासे तु सर्वलिङ्गता भवति। ननु च प्रतिगतमक्षमित्यस्यां व्युत्पत्तावक्षाश्रितस्यैवेन्द्रियज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दवाच्यता स्यात्' न योगिज्ञानादेः' तेषामक्षानाश्रयादित्याशङ्क्याह[1]' अक्षाश्रितत्वं चेत्यादि (6. 4)। एकार्थसमवेतमित्येकस्मिन्निन्द्रियज्ञाने समवेतमक्षाश्रितत्वमर्थसाक्षात्कारित्वं च संबद्धमि[2]त्यर्थः। **सारूप्यलक्षणमि**(6. 10)त्यनेनार्थसारूप्यलक्षितं ज्ञानमेवोच्यते। तन्न[3] सारूप्यमात्रम्। अन्यथा त्रिरूपाल्लिङ्गादनुमेये ज्ञानमिति विरुध्येत। अत्रापि **पश्चान्मानमनुमानमि**(6. 11)त्यव्ययीभावसमासे पूर्ववच्चोद्यमुद्भाव्य गतिसमास आश्रयितव्यः। अनुगतं मानमनुमानमिति पश्चादित्यर्थकथनं कृतं' न तस्मिन्वाक्ये समासः।

चकारः प्रत्यक्षानुमानयोस्तुल्यबलत्वं समुच्चिनोतीत्यादिना[4] (6. 12–13) यदुक्तं शबरस्वामि[5]प्रभृतिभिः प्रत्यक्षं श्रेष्ठं प्रमाणं नानुमानं' तथा चोक्तं मीमांसभाष्ये प्रत्यक्षे बलीयसि कथमनुमानमिति[6] तत्प्रत्युक्तं' यतो द्वयोरपि स्वव्यापारे तुल्यबलत्वम्। अमुमेवार्थं[7] दर्शयति' **यथार्थाविनाभावेत्यादिना** (6. 13)। अनेन विनीतदेवशान्तभद्रयोर्व्याख्या च दूषिता। ताभ्यामेवं व्याख्यातं' प्रत्यक्षमनुमानं चेति भिन्नविभक्तिनिर्देशोऽर्थाद्विषयभेदं दर्शयति। यथानयोर्विभक्तिर्भिन्ना[8]' एवं विषयोऽपि भिन्न इति। एतच्चायुक्तं

---

1) MS. ज्ञाना देस्तेषानामक्षा°.

2) MS. संबन्धमि°.

3) MS. तेन.

4) MS. स्तवयतीत्या°.

5) MS. सवरस्वामि°.

6) Такаго мѣста намъ не удалось розыскать, вѣроятно цитата сдѣлана не буквально, а по смыслу, такъ какъ совершенно такую же мысль находимъ въ Çabarasvāmibhāṣyam ad Jaiminisūtra I, 1, 4: *pratyakṣapūrvakatvāc cānumānopamānārthapattīnām apy akāraṇatvam iti.* Cp. Çlokavārt., pratyakṣasūtra, 37 и слѣд.

7) MS °ननुमेवार्थं.

8) MS. °र्विभक्तिभिन्ना.

यस्मादेकविभक्तिनिर्देशे क्रियमाणे चकारेण तुल्यबलत्वं न प्रदर्शितं स्यादिति । प्रत्यक्षत्वजात्येति (6. 17) प्रत्यक्षाणां बहुत्वात् तज्जात्या निर्धार्यते[1] ।

प्रत्यक्षमनूद्येति (6. 18) लक्ष्यनिर्देशः । कल्पनापोढत्वमभ्रान्तत्वं च विधीयत इति[2] लक्षणनिर्देशः । अनेन लक्ष्यलक्षणभावं दर्शयता विनीतदेवव्याख्यानं संज्ञासंज्ञिसंबन्धरूपं प्रत्युक्तम् । न हि संज्ञा यथार्था संभवति । यथार्थकथनेन हि विप्रतिपत्तिर्निराकृता स्यात् । यद्यप्यन्वर्थसंज्ञया[3] कल्पनापोढं यदभ्रान्तं च तत्प्रत्यक्षमिति शक्यते यथार्थं कथयितुं[4] तथापि न स्वरूपं प्रत्यक्षस्य कथितं स्यात् ' यतो ऽन्यदपि प्रत्यक्षस्य स्वरूपमर्थसाक्षात्कारादिकमस्तीति ' लक्ष्यलक्षणे तु यथार्थं कथिते[5] कथितं भवति[6] । यत्किंचित्प्रत्यक्षं तत्कल्पनापोढाभ्रान्तमिति[7] प्रतिपत्तव्यम् । अत[8] एव न लक्षणकरणं संज्ञाकरणं भवति ' संज्ञाकरणत्वेनाप्रतीतेर्लक्षणकरणस्य । शब्दमनूद्यानित्यत्वं लक्षणं विधीयते ' न चानित्यत्वं संज्ञेति गम्यत इति संज्ञालक्षणकरणयोर्भेदः । यस्त्वनयोः प्रदेशान्तरप्रसिद्धयोरनुवादं कृत्वा प्रत्यक्षत्वं विदधाति तेनाप्यत्र लक्ष्यलक्षणभावो[9] विपरीतमाख्यातं भङ्ग्या ' यतो लक्षणविधानकाले लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयते ' न तु[10] लक्षणमनूद्य लक्ष्यं विधीयते । सिद्धे तु लक्ष्यलक्षणभावे सति लक्षणमनूद्य लक्ष्यं विधीयते ' यथा यः शिखावान्स परिव्राजक इति । शिखालक्षणविधा-

1) MS. निर्धर्यिते (?).
2) MS. विधीयतेति.
3) MS. यद्यप्यत्व°.
4) MS. कंथितु.
5) MS. пропускаетъ это слово.
6) MS. sc. स्वरूपं.
7) MS. °पोढभ्रांत°.
8) MS. अथ एव.
9) MS. °णभावविपरी°
10) MS. ननु (?).

नकाले तु परिव्राजकानुवादेन शिखैव विधीयते । न विपरीतविधानमित्यन्यदप्यस्मिन्पक्षे दूषणं दत्तं विनिश्चयटीकायां टीकाकृतेति तत्रैव द्रष्टव्यम् । ननु च लक्षणविधिपक्षे प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वादनूद्यं न संभवति । ततश्च कथं प्रत्यक्षलक्ष्यमनूद्य[1] लक्षणं विज्ञाप्यते । यथा शिखया परिव्राजक इत्यत्र[2] शिखालक्षणमनूद्य कल्पनापोढादि विधीयत इत्याशङ्क्याह । **यत्तद्भवतामित्यादि** (6. 19) । एवं मन्यते । यद्यपि कल्पनापोढत्वेन[3] प्रत्यक्षं न प्रसिद्धं तथाप्यर्थसाक्षात्कारित्वेन सामान्यं प्रत्यक्षं प्रसिद्धम् । अतो ऽप्युच्यते[4] प्रत्यक्षमनूद्येति[5] । ननु च तयोरप्रसिद्धत्वात्प्रत्यक्षस्याप्रसिद्धिरेव । प्रत्यक्षस्य तत्स्वभावत्वादित्याशङ्क्याह । **न[6] चैतन्मन्तव्यमित्यादि** (6. 20) सुबोधम् । **कल्पनास्वभावरहितमिति**[7] (7. 1) भावप्रधानो निर्देशः । कल्पनात्वस्वभावरहितमित्यर्थः । **अभ्रान्तमर्थक्रियाक्षमे च वस्तुरूप**[8] (7. 1—2) इत्यादिनाविसंवादो ऽर्थो ऽभ्रान्तशब्दस्य न संभवतीति दर्शयति । अविसंवादार्थे[9] ऽभ्रान्तशब्दे गृह्यमाणे उत्तरत्रदूषणं प्रतिपादयति । सन्निवेशोपाधिवर्णात्मकमित्यनेनैतद्दर्शयति । वर्णादन्यत्संस्थानादिकं परपरिकल्पितं नास्तीति[10] । **एतच्च लक्षणद्वयमित्यादिना** (7. 3) पदद्वयेन विप्रतिपत्तिनिरासं दर्शयता विनीतदेवव्याख्या पदद्वयव्यवच्छेद्यकथनरूपा दूषिता । तेन त्वेवं[11] व्याख्यातम् । अभ्रान्तमिति यद्विसंवादि[12] न भवति । एवं सत्यनुमानस्यापि प्रत्यक्षलक्षणं प्राप्नोतीति कल्प-

1) MS. °लब्धमनु° (?).
2) MS. °व्राजकेस्यत्र.
3) MS. °पोढत्वादित्वेन.
4) MS. अतोपुद्यते.
5) MS. °मनूद्यं इति.
6) MS. пропускаетъ न.
7) MS. कल्पनास्वभावत्वरहितेति.
8) MS. च स्वरूपे.
9) MS. अविसंवादार्थौ.
10) MS. नाप्नोति.
11) MS. त्येवं.
12) MS. यद्वि संवाद.

नापोढग्रहणं तन्निवृत्त्यर्थम्। यद्येवं व्याख्यायते' आलम्बने यन्न भ्रान्तं तदभ्रान्तमित्येवमुच्यमाने[2] सर्वं प्रत्यक्षं ज्ञानमालम्बने भ्रान्तमिति न कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं स्यात्। तथा चाह।

सर्वमालम्बने भ्रान्तं मुक्त्वा तथागतज्ञानम्[3]।

इति योगाचारमते।

न[4] तदप्यत्राचार्येण संगृहीतमिति तदयुक्तं' यत आचार्येण विप्रतिपत्तिनिरासार्थं पदद्वयं कृतं' न व्यवच्छेदार्थम्। अत एवाचार्यमनुमापयता[5] धर्मोत्तरेण पदद्वयं व्याख्यातमिति। ननु च भवतः पक्षे ऽपि किमिति व्यवच्छेदार्थं न भवतीत्याह' एतच्चेत्यादि। एवं मन्यते। भ्रान्तशब्दो ऽयं नाविसंवादार्थो गृह्यते' अपि त्वर्थक्रियाक्षमे वस्तुरूप आलम्बने यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तशब्देन[6] गृह्यते। ननूक्तं योगाचारमतमसंगृहीतं स्यादिति। उच्यते। बाह्यनयेन[7] सौत्रान्तिकमतानुसारेणाचार्येण लक्षणं कृतमित्यदोषः। योगाचारमतेन त्वभ्रान्तग्रहणं न कर्तव्यं संवादकस्य सम्यग्ज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात्' अन्यव्यावर्त्यस्याभावात्। तस्मादभ्रान्तग्रहणेनानुमाने निरस्ते कल्पनापोढग्रहणमधिकं सिद्धिविप्रतिपत्तिं[8] निराकरोति। अत एवाह[9]' न त्वनुमाननिवृत्त्यर्थमिति (7. 3—4)। अस्ति चात्र विप्रतिपत्तिः। तथाहि मीमांसकादय एवमाहुः। यथा निर्विकल्पकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तथा जात्यादियोजनाज्ञानमपि सम्यग्ज्ञानमिन्द्रियजं' उपदर्शितस्यार्थस्य प्रापणात्[10]। तथा चाहुः।

ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया।

2) MS. °मुच्यमाणे.

3) MS. तथागतं ज्ञा°.

4) MS. योगाचारमनेन.

5) MS. °चार्यानुमापयता.

6) MS. तदभ्रान्त°.

7) MS. वाह्यनयेन (?); sc. बाह्यवादनयेन.

8) MS. सिद्धिप्रतिपत्तिं.

9) MS. एत एवाह.

10) MS. प्रमाणात्तथा.

बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमतेति[1] ॥

तथा च वैयाकरणा आहुः । वाचकसंसृष्टं वाच्यमिन्द्रियज्ञाने प्रतिभासते । तेन शब्दसंयोजनात्मकमिति ।

वाग्रूपता चेदुत्क्रामे[2]दवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेन सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
न सो ऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं[3] शब्देन भासते ॥

तथा नैयायिकादीनां सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति कल्पनापोढग्रहणेन निराक्रियते । तथा कल्पनापोढग्रहणेन निर्विकल्पके सिद्धे ऽभ्रान्तग्रहणमतिरिच्यमानं[4] द्विचन्द्रज्ञानादेः सम्यग्ज्ञानाधिकरण एव[5] निरस्तत्वाद्विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वमेव भवति । तथाचार्यै[6]कदेशीयाः शुक्ले शङ्खे पीतज्ञानं गच्छद्वृक्षदर्शनज्ञानं चालातचक्रज्ञानमभ्रान्तमपि[7] सम्यग्ज्ञानमिच्छन्ति । वस्तुनो ऽभ्रान्तत्वा[8]त्पीताकारादेश्च भ्रान्तत्वादित्यस्ति विप्रतिपत्तिः । तन्निराक्रियते ऽभ्रान्तग्रहणेनेति स्थितं द्वयोरपि विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वमिति । तथा सति अभ्रान्तग्रहणा (7.4—5) इत्यादिनाभ्रान्तशब्दस्य विप्रतिपत्तिविषयं दर्शयति । न ततो वृक्षावाप्तिरित्युपदर्शितस्य गच्छद्वृक्षस्याप्राप्तेरित्यभिप्रायः । ज्ञानान्तरादेव त्विति (7.11) प्रत्यक्षान्तरात्स्थिरवृक्षस्य प्राप्तेः । तथाभ्रान्तग्रहणेनेत्यादिना कल्पनापोढग्रहणस्य विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वं दर्शयति । विप्रतिपत्तिविषयश्च टीकाकृता न दर्शितो

---

1) MS. समंतेति. Cp. Çlokavārt. pratyakṣasūtra, 120.

2) MS. चेदुद्धामेद्°.

3) MS. सर्वज्ञशब्देन (!), или सर्वदा शब्देन.

4) MS. °णमिति रिच्यमा°.

5) MS. °धिकरणेव. Возможно и °धिकरणेनैव.

6) MS. तद्याचार्यै°.

7) MS. °चक्रज्ञानं भ्रान्त°.

8) MS. वस्तुनो भ्रान्तत्वात्.

ऽतिप्रसिद्धत्वात्[1] । यदुक्तं प्राग्[2] नाविसंवादार्थो ऽभ्रान्तार्थ इति तस्यार्थस्य ग्रहणे दोषं दर्शयति । न ह्यविसंवादकमित्यादिना (7.13—14) ।

कीदृशी पुनः कल्पनेत्यादिना (7.19) कल्पनाबहुत्वात्कस्याः कल्पनायाः ग्रहणमिति कल्पनाविशेषमजानन्पृच्छति । तथा हि वैभाषिका इन्द्रियविज्ञानं वितर्कविचारचैतसिकसंप्रयुक्तं[3] कल्पनामिच्छन्ति । योगाचारमतेन च तथागतज्ञानमद्वयं मुक्त्वा सर्वज्ञानं ग्राह्यग्राहकत्वेन विकल्पितं[4] कल्पना । जात्यादिसंसृष्टं तु मनोज्ञानं कल्पनेत्यन्ये कथयन्ति । अभिलापेत्यादिना (7.21) शब्दसंसृष्टस्य विकल्पस्य ग्रहणं नागमपरिपठितानामिति दर्शयति । तेषां ग्रहणे सतीन्द्रियविज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः । अभिलप्यत अनेनेति (7.21) करणसाधनेनैतद्दर्शयति[5] । वाचको ऽभिलापशब्देनेष्टो न तु वाच्यं सामान्यादि । तेन विनीतदेवव्याख्या दूषिता । अभिलप्यत इत्यभिलापः वाच्यः सामान्यादिरित्येवंरूपा । एवमेवेदमाश्रयणीयमन्यथा योग्यग्रहणेन शब्दसंसर्गयोग्यो[6] न कथितः स्यादिति । यद्येवं[7] धर्मोत्तरव्याख्याने जात्यादेर्वाच्यस्य[8] संसर्गभावो न प्रदर्शितः स्यात् । सत्यं । अनेन न प्रतिपादितः । विषयचिन्तायां सामान्यादेर्विषयभावकथनेन[9] सामर्थ्यात्कथितं भवतीति निरोधः । एकस्मिञ्ज्ञाने वाच्यवाचकाकारतया संघटनमित्यर्थः । ननु च यद्यपि तस्मिञ्ज्ञान आकारयोर्मीलनं[10] तथापि शब्दार्थयोः संसर्गो नास्तीत्याह ।

---

1) MS. ऽभिप्रसिद्ध°.
2) См. выше, стр. 19.8.
3) MS. संप्रयुक्ता.
4) MS. विकल्पतं.
5) MS. कारणसाध°.
6) MS. °सर्गयोः ग्यो (sic!)
7) MS. यथेवं (?).
8) MS. वाचस्य.
9) MS. °भावथनेन.
10) MS. °ज्ञाने अकार°.

ततो यदेकस्मिन्नित्यादि (7.22—23)। शब्दार्थयोः संसर्गविज्ञाने ऽपि[1] तयोराकारयोर्मीलनं न संभवतीत्यभिप्रायः। तत्र काचित्प्रतीतिरित्यादिना (8.1) योग्यग्रहणस्य विषयं दर्शयति। व्युत्पन्नसंकेतापेक्षयाकारद्वयप्रतिभासनम्[2]। ननु[3] चाव्युत्पन्नसंकेतस्य बालमूकादेरनुमतो विज्ञाने न शब्दसंसर्ग इति तद्योग्यत्वमपि नास्ति। कश्च संसर्गयोग्यप्रतिभासः ' य शब्दप्रतिभासः। मूकादिज्ञाने तु संकेताभावे सति शब्दप्रतिभासो ऽपि न संभवतीति संसर्गयोग्यत्वमपि नास्ति। किमिदं योग्यत्वं नाम ' अभिधेयाकारस्य संकेतकरणयोग्यत्वम्। न चाभिधानोल्लेखाभावे सत्यभिधेयप्रतिभासनं ' नापि योग्यत्वमिति। तथा च कुमारिलः[4] प्राह।

अस्ति ह्यालोचनात्मकं[5] प्रथमं निर्विकल्पकं।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजमिति॥

ततश्च व्यावर्त्याभावाद्योग्यग्रहणं न कर्तव्यमित्याशङ्कां परस्य दर्शयति ' असत्यभिलापेत्यादिना[6] (8.8)। अनियतप्रतिभासेत्यादिनोत्तरमाह। एवं मन्यते। शब्दसंसर्गित्वं किमुच्यते ' विकल्पज्ञानस्यानियतप्रतिभासत्वमेव[7]। कुतस्तत्सिद्धमित्याह ' अनियतेत्यादि (8.8)। अर्थादेव ह्युत्पद्यमानं नियतप्रतिभासं भवति। तथा चक्षुर्विज्ञानमित्यभिप्रायः। ननु कल्पनाज्ञानमप्यर्थादुत्पद्यमानं नियताकारं भविष्यतीत्याह ' विकल्पज्ञानेत्यादि (8.10)। अर्थसंनिधिं[8] विना विकल्पज्ञानस्योत्पत्तिरित्यभिप्रायः[9]

---

1) MS. विज्ञानेदितयोरा°

2) MS. °भासनात्.

3) MS. न तु.

4) См. Çlokavārt., pratykṣasūtra, 112.

5) MS. °नात्मनं.

6) MS. °त्यभिज्ञापेत्या°.

7) MS. °प्रतिभासित्वमेव.

8) Текстъ विकल्पविज्ञाने°, MS. °संनिधि विना.

9) MS. °त्पत्तिः ऽभिप्रायः.

तेनेन्द्रियज्ञानमेव नियतप्रतिभासम् । विकल्पज्ञानं त्वनियतप्रतिभासमिति । तथानियतप्रतिभासं विकल्पज्ञानं बालमूकादेरप्यस्तीति दर्शयति ' बालो ऽपि हीत्यादिना (8. 12) । ननु च बालस्य ताल्वादिकरणपाटवाभावे सामान्यविशेषशब्दोच्चारणं नास्ति ' तत्किमुच्यते स एवायमिति (8. 13) । सत्यं नास्ति ' किं तु स एवायमित्यनेन विकल्पस्यावस्थोच्यते । स एवायमित्यनेन पूर्वदृष्टत्वमेवोच्यते । उपरतरुदितो ऽपगतरुदितः । एतद्दर्शयति । बालस्यापि पूर्वापरपरामर्शरूपं विकल्पकं विज्ञानमस्ति नियतविषये प्रवृत्तेः ' यथा गृहीतसंकेतस्य पूर्वापरपरामर्शेन प्रवृत्तिरिति । यच्च पूर्वापरपरामर्शि तदनियतप्रतिभासं पूर्वापरयोरारोपितत्वादिति संसर्गयोग्यं बालमूकादेर्विज्ञानमिति तन्निवृत्त्यर्थं[1] योग्यग्रहणं कर्तव्यमिति स्थितम् । इन्द्रियविज्ञानमित्यादिना (8. 16) कुमारिलेन यदिन्द्रियविज्ञानस्यालोचनाख्यस्य बालमूकादिविज्ञानेन सादृश्यं प्रतिपादितं तद्दूषयितुमुपसंहारव्याजेन वैलक्षण्यं दर्शयति । अत एवेत्यादि (8. 18) यदिन्द्रियविज्ञानमर्थबलेनोत्पद्यमानं नियतप्रतिभासं तन्निर्विकल्पकम्[2] । अत एव स्वलक्षणस्यापि शब्दस्यार्थस्य च वाच्यवाचकत्वमभ्युपगम्य निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य साध्यते । विकल्पविज्ञानस्य तु स्वलक्षणवाच्यवाचकत्वं प्रतिभासिनो ऽपि सविकल्पकत्वमिति स्थितम् । यद्यपीत्यनेन (8. 19) स्वलक्षणयोर्वाच्य[3]वाचकभावाभ्युपगमं दर्शयति ' परमार्थतः सामान्ययोरेव वाच्यवाचकत्वं नार्थशब्दविशेषस्येत्यादिना न्यायेन । अवश्यं च स्वलक्षणयोः वाच्यवाचकभावो[4] ऽभ्युपगम्यः[5] । कुतः । सामान्ययोर्विषयचिन्तायामेव निरस्यमानत्वादिति निर्विकल्पकत्वकथनं व्यर्थं स्यादिह । तदपि हि विषयाविषयचिन्ताद्वारेण निर्विकल्पकविषयमेवेति । तेन यद्विनीतदेवेन सामान्ययोर्वाच्यवाचकभावमङ्गीकृत्य

---

1) MS. तन्निववृत्त्यर्थं.

2) MS. सन्निर्विकल्पकं.

3) MS. स्वलक्षणयोवाच्य°.

4) MS. °भावमभ्यु°.

5) MS. °ऽभ्युपगम्या.

निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य प्रतिपादितं तद्दूषितं भङ्ग्या। श्रोत्रविज्ञानं तर्ह्री-त्यादिना (8. 21) स्वलक्षणस्य वाच्यवाचकभावपक्षे ऽतिप्रसङ्गमापादयति परः। किंचि-न्निर्विकल्पकत्वमिन्द्रियविज्ञानस्य साधनीयम्। न सामान्ययोर्वाच्यवाचकमभ्युपगम्य[1] शब्दस्वलक्षणं[2] वाच्यम्। यदा घटशब्दः शब्दशब्दो वा शब्दं शब्देन प्रतिपद्यते। तदा किं-चिद्वाच्यं शब्दस्वलक्षणं किंचिद्वाचकं शब्दस्वलक्षणमिति। ततः शुद्धयोः श्रवणे सति शब्दविज्ञाने द्वयोरपि शब्दयोः प्रतिभासनाच्छ्रोत्रेन्द्रियज्ञानमनियतप्रतिभासित्वात्सवि-कल्पकं स्यादित्याकूतम्। सत्यपीत्यादि (8. 23)। एवं मन्यते। यद्यपि स्वलक्षणयो-र्वाच्यवाचकत्वं तथापि श्रोत्रविज्ञाने न[3] वाच्यवाचकतया तयोः[4] प्रतिभासनं। अपि तु शुद्धयोरेव प्रतिभासनं। यस्माच्छब्दसंनिधिबलेन श्रोत्रविज्ञानमुत्पद्यते। न च संनि-हितयोः[5] शब्दयोः वाच्यवाचकत्वमस्ति। यावत्संकेतकालभावि[6]शब्दस्मरणं न भवति तावत्कुतो वाच्यत्वं वाचकत्वं वा स्यात्। एतत्प्रत्यभिज्ञया स एवायं वाचको भविष्यती-त्याह। न च संकेतकालेत्यादि (1. 24) विषयभेदात्तयोः पूर्वोत्तरयोर्भेदः। कश्च संके-तविषयः शब्दो। यः संकेतकालभाविना ज्ञानेन विषयीकृतः। यश्च पूर्वज्ञानेन विषयीकृतः स इदानीं नास्ति। पूर्वज्ञानविनाशे पूर्वज्ञानविषयत्वस्याभावात्। अतः पूर्वकालविषय-त्वमपश्यत्सन्निहिते[7] श्रोत्रबलेनोत्पद्यमानं निर्विकल्पकमेव। योगिज्ञानेन यद्येकस्मि-न्काले मनोविज्ञानेन च युगपच्छब्दार्थौ[8] गृह्येते[9] तथापि संनिहितवस्तुतया तेन गृही-

1) MS. सामान्ययोवाच्य°.
2) MS. शब्दलक्षणं.
3) MS. °विज्ञानेने.
4) MS. °वाचकतयोः प्रतिभा°.
5) MS. संहितयोः.
6) MS. °कालाद्भाविः.
7) MS. संन्निहते.
8) MS. °ब्दार्थो.
9) MS. गृह्यते.

तव्याविति दर्शयति । योगिज्ञानमित्यादिना (9.3) । ननु कल्पनाज्ञानमपि परया[1] कल्पनया शून्यं ' ततश्च तस्यापि निर्विकल्पकत्वं प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह । तया कल्पनया कल्पनास्वभावेनेत्यादि (9.6)। एवं मन्यते। धर्मिणा कल्पनाज्ञानेन धर्मो ऽत्र कल्पनात्वं लक्ष्यते ' यथा विषाणीत्यत्र विषाणित्वं ततश्च कल्पनात्वेन रहितं यज्ज्ञानं तन्निर्विकल्पकम्। न च कल्पनाज्ञानं कल्पनात्व[2]रहितमित्यदोषः।

कल्पनापोढाभ्रान्तत्वयोर्लक्षणयोः परस्परविशेषणविशेष्यत्वं ' न स्वातन्त्र्येण पृथग्लक्षणत्वमिति दर्शयितुमन्ते प्रत्यक्षशब्दं गृहीत्वा तयोरपि संबध्नाति तत्प्रत्यक्षमिति परेण संबन्ध (9.6—7) इत्यनेन । इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणमि(9.9)तीन्द्रियस्य तिमिरेणाक्रान्तत्वात्। आशुभ्रमणमिति। मन्दं भ्रम्यमाण इति[3] विशेषणस्य व्यावृत्तिः। विषयगतमिति (9.11) विषयस्यालातादेश्चक्राकारं प्रति निमित्तत्वात्। नौयानमिति (9.11) समुदायप्रश्नः। गच्छन्त्यां नावीत्यादिना (9.11)। प्रयोजनं दर्शयति। बाह्याश्रयगतमिति (9.12)। बाह्या नौः सैवाश्रयस्तत्र स्थितस्याश्रयद्वारको विभ्रम उच्यते। संक्षोभो वातादीनां विकारापत्तिरध्यात्मिकविभ्रमकारणम्। ननु चेन्द्रियगतमेव विभ्रमकारणम्। प्रत्युच्यते। नान्यैरिन्द्रियमगतैरिन्द्रियं विक्रियां गतमित्याह ' सर्वैरेवेत्यादि (9.14) तिमिरस्य साक्षादलातादेः पारम्पर्येणेति ' एतच्च विनिश्चयटीकायां विस्तरेण प्रतिपादितमिति। संक्षोभपदेन[4] सह द्वन्द्वं कृत्वा बहुव्रीहिरिति दर्शयति ' विनिश्चये तु संक्षोभशब्देन षष्ठीसमासं कृत्वादिशब्देन बहुव्रीहिसमासं दर्शयतः को ऽभिप्रायः टीकाकृत इति। व्युत्पत्तिभेदकथनमेव नार्थभेद इति। यदा संक्षोभशब्देन षष्ठीसमासः तदाश्रयगतस्य विभ्रम[5]कारणस्योपलक्षणत्वाद्वातपित्तादेर्ग्रहणं भवतीति नार्थभेदः।

---

1) MS. मपि ऽपरया.

2) MS. कल्पत्व°.

3) MS. послѣ आशुभ остальныя слова до विशेषणस्य пропущены.

4) MS. सपदेन (sic!) вм. संक्षोभपदेन.

5) MS. विभ्रकारण°

अथ किमर्थमाशुभ्रमणग्रहणादेरुपादानं । तिमिरादीत्येव क्रियतामादिग्रहणेन सर्वेषां संग्रहो भविष्यति । उच्यते । असत्याशुभ्रमणादिग्रहण[1] इन्द्रियगतमेवादिशब्देन काचकामलादि गृह्यत इत्याशङ्क्येत[2] । तस्मादाशुभ्रमणादिरुपादीयते । तेषामुपादाने यद्यादिग्रहणं न क्रियेत तदा तेषां स्वरूपग्रहणमेव स्यात् । न प्रकारोपलक्षणमित्यादिग्रहणम् । तत उभयोपादाने[3] सति तिमिरादीनामुभयकार्त्स्न्यं[4] लभ्यत इति स्थितम् । तत् तथाविधं ज्ञानमिति (9. 19) यद्यपि सूत्रे ज्ञानग्रहणं नास्ति[5] तथापि भ्रान्ते ज्ञानधर्मत्वात्तद्व्युदासेन ज्ञानमेव प्रत्यक्षं गृह्यत इत्यदोषः । विनीतदेवव्याख्यायां भवति तु[6] प्रत्यक्षसूत्रस्यार्थकथनं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति तस्मात्स्थितं निर्विकल्पकं ज्ञानं प्रत्यक्षमभ्रान्तमिति ॥

यैरिन्द्रियमेव द्रष्टृ परिकल्पितमिति (9. 20) । वैभाषिकैः ' चक्षुः पश्यति रूपाणीति तैरिष्यते[7] । मानसे च प्रत्यक्षे दोष उद्भावित इति ' द्वाभ्यां भिक्षवो रूपं दृश्यते चक्षुर्विज्ञानेन तदाकृष्टेन मनोविज्ञानेनेति तदागमसिद्धं मनोविज्ञानमाचार्यदिग्नागेन प्रत्यक्षं दर्शितं ' तत्परैः कुमारिलादिभिर्लक्षणमज्ञानद्भिर्दूषितम् । तन्मनोज्ञानं यदीन्द्रियविज्ञानविषये प्रवर्तते[8] तदा गृहीत[9]ग्राहितयाप्रमाणं ' अथान्यविषये प्रवर्तते ' व्यवहिते प्रत्यक्षं भवत्किं तन्मनोविज्ञानमिन्द्रियसव्यपेक्षं स्यान्निरपेक्षं वा । इन्द्रियसव्यपेक्षत्वे सतोन्द्रि-

---

1) MS. °ग्रहणेन्द्रिय°.

2) MS. इत्यशङ्क्यते.

3) MS. उभयोपादने.

4) MS. कात्स्न्यं.

5) Ср. N. b. ṭ. 9. 6 и 9. 8; слово *jñānam* стояло или послѣ *rahitam*, или его совсѣмъ не было. Но въ текстѣ, съ котораго сдѣланъ тиб. переводъ (21.3) и въ томъ, который имѣлъ передъ собою Vinītadeva оно стояло тамъ же, гдѣ и въ нашемъ текстѣ; см. N. b. ṭ. 9. 4.

6) MS. भवतु.

7) MS. तैरिष्यतैरिष्यते मानसे...

8) MS. व्यवर्तते.

9) MS. ग्रहीत°.

यविज्ञानमेव ' निरपेक्षत्वे वानिन्द्रियस्यापि मनोविज्ञानं प्रत्यक्षं स्यादित्यन्धबधिरा[1]द्यभावचोद्यं कृतम् । स्वसंवेदनं च नाभ्युपगतमिति (9.21) मीमांसकैः परोक्षं विज्ञानमर्थापत्तिगम्यं ' प्रत्यक्षो ऽर्थ इष्यते । नैयायिकादिभिस्तु ज्ञानान्तरगम्यं ज्ञानमिष्यते ' न स्वसंवेदनं सिद्धं ' स्वात्मनि कारित्वविरोधात् । योगिज्ञानं च (9.21) नाभ्युपगतमिति संबन्धः । मीमांसकादय एवमाहुः । योगिन एव न संप्रति प्रमाणाभावात् ' किं पुनः तेषां ज्ञानमिति ' इन्द्रियाश्रितमिति चक्षुरादीन्द्रियचतुष्टयं गृह्यते । न मन इन्द्रियं ' तस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षे प्रतिपाद्यमानत्वात् । इन्द्रियाश्रितं विज्ञानं प्रत्यक्षमिति ब्रुवता[2] वार्तिककृता न चक्षुः प्रमाणमिति कथितं भवति ' यस्माज्ज्ञानस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधानाद्रूपादिदर्शने सामर्थ्यं ' न चक्षुषः । यत्तूक्तं[3] ज्ञानं चेत्पश्यति ' व्यवहितमपि किं न पश्यति ' अमूर्तस्यावाचकाभावादिति[4] ' तदयुक्तं ' यतो योग्यदेशेनैवार्थेन तज्ज्ञानं जन्यते ' न व्यवहितेन ' विज्ञानादर्शनात् ।

स्वशब्दस्य विवरणं ' आत्मीय (10.8) इतीन्द्रियविज्ञानस्यात्मीयः विषयक्षणः । तस्यानान्तर (10.8) इत्यस्य विवरणं ' न विद्यत इत्यादि । अन्तरशब्दस्य विवरणं व्यवधानमित्यादि । समानजातीय उपादेयक्षणा इन्द्रियविज्ञानविषयस्याव्यवहितः समानजातीयक्षणा उच्यते । स चोपादेयक्षणो विषयः । विषयग्रहणेनालोकस्यानन्तरस्य निरासः । स तथाभूतः सहकारी यस्येति (10.11) संबन्धः । ननु च कथं विषयक्षणास्य सहकारित्वमेकस्मिन्क्षणे उपकार्योपकारकभावाभावादित्यत आह ' द्विविधश्चेत्या-

---

1) MS. °न्धविधिरा°.

2) MS. ब्रवता.

3) MS. चक्षुष य भुक्तं.

4) Ожидали бы: *amūrtatva-* (sc. *jñānasya*) *avācakatvābhāvāt* т. е. «потому что нѣтъ (*abhāvāt*) отсутствія указанія (*avācakatva*) на нематеріальность знанія» или, выражая ту-же мысль въ утвердительной формѣ: «имѣются указанія на то, что познаніе (т. е. процессъ чувственнаго воспріятія) не матеріально (т. е. не есть процессъ физіологическій)».

दि[1] (10. 11)। एवं मन्यते। नात्रोपकारकत्वात्सहकारित्वमपि त्वेककार्यकारित्वादिति। तदेव दर्शयति। विषयेत्यादिना (10. 13)। ईदृशेनेति (10. 14) स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेनालम्बनप्रत्ययभूतेनेति। यदा योगिज्ञानं परस्यैवंविधज्ञानमालम्बते तदालम्बनभूतेन योगिज्ञानं जन्यत इति[2]। समश्चासावित्यनन्तरक्षणस्यापि ज्ञानत्वात्। समनन्तर इति च[3] भवति शकन्ध्वादिषु[4] पाठात् पररूपत्वं यतः स चेति (10. 16) समनन्तरः। हेतुत्वादिति प्रत्ययार्थकथनमेतत्। तेन जनितमित्यादिनैतत्कथयति। इन्द्रियविज्ञानेन स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणोपादान[5]भूतेन यज्जनितं तदेव मनोविज्ञानं प्रत्यक्षं। न आलम्बनभूतेन जनित[6]मित्यर्थः। यदा चेत्यादिना (10. 18) द्वयोरेकं विषयं गृहीत्वा यच्चोदितं परेण तत्परिहृतं। पूर्वक्षण इन्द्रियविज्ञानस्य विषयो द्वितीयक्षणे मनोविज्ञानस्य विषय इत्यगृहीतग्राहि मनोविज्ञानमिति। यदा चेत्यादिना (10. 18) यच्चोद्यं कृतं। यदि मनोविज्ञानमिन्द्रिय[8]सव्यपेक्षं न स्यान्मनोविज्ञानस्येन्द्रियविज्ञानविषयादन्यो विषयः तदान्धबधिराद्यभावः। व्यवहितस्य नीलादेर्ग्रहणं भवत्विति तत्परिहृतम्। यस्मादिन्द्रियविज्ञानविषयस्य द्वितीयोपादेयभूतविषयक्षणो गृहीतो मनोविज्ञानविषयः तस्माद्व्यवहितक्षणो विषयो[9] न भवत्यस्यान्धबधिरादेश्चातो-

---

1) MS. °द्विविधस्चेत्यादि.

2) MS. जन्यतेति.

3) MS. न भवति.

4) MS. शकान्ध्वादिषु, ссылка на vārtika 3632, ср. Pāṇ. VI, 1, 94; см. Siddhāntakaumudī § 79, въ объясненіе того, что изъ *sama* и *anantara* произошло *samanantara*, а не *samānantara*.

5) MS. °णोपादन°.

6) MS. जिनितं. Передъ этимъ словомъ пустое мѣсто, м. б. пропущено: *tena yogijñānaṁ*.

7) MS. पश्चाद्यं.

8) MS. मनोविज्ञानेन्द्रिय°.

9) MS. क्षणाविषयो.

न्द्रियविज्ञानम्। विज्ञानविषयानन्तरविषयसहकारि विद्यते। तेन तेषां न मनोविज्ञानं भवतीति परिहृतम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेत्युच्यमाने शब्दविषयं मानसं न प्राप्नोति श्रोत्रविज्ञानविषयाच्छब्दादपरस्योपादेयक्षणस्यानुत्पत्तेः शब्दस्योच्छेदित्वात्। अपरस्य शब्दस्य शब्दादनुत्पत्तेरित्यवश्यं मानसं प्रत्यक्षशब्दविषयमेष्टव्यम्। अन्यथा पञ्च बाह्या[1] विज्ञेया इत्यस्य व्याघातः[2] स्यात्। स्वविषयानन्तरविषयशब्देन श्रोत्रविज्ञानविषयानन्तरयोग्यविषयो गृह्यते नोपादेयक्षण एव तेन विज्ञानविषयदेशे ऽपरशब्दो यदोत्पद्यते तदा मानसं प्रत्यक्षं स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणा जनितं भवतीत्यदोषः। एतच्चेत्यादिना (10.21) मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविषयं दर्शयति। उपरते चक्षुषीति। यदा चक्षुर्विषय[3]मालोच्योपरतं भवति तदालोचनाविषये चक्षुर्विज्ञान[4]मुत्पन्नं तत्पुनर्द्वितीये क्षण आत्मीयविषयानन्तरविषयेणो[5]त्पाद्यत इन्द्रियाणां तत्र व्यापाराभावात्। ततश्च तेनेन्द्रियविज्ञानेन स्वविषयानन्तर[6]विषयसहकारिणा मानसप्रत्यक्षमुत्पद्यत इति स्थितम्। नन्वेकस्मिन्क्षणे तस्योत्पादके सति न तत्र काचिदर्थक्रियावाप्यत इति पुरुषार्थानुपयोगित्वात्प्रामाण्यं प्राप्नोति[7]। उच्यते। न मानसप्रत्यक्षेणास्मद्विधानामर्थक्रियावाप्तिर्भवति। अपि तु योगिनो वीतरागादेः। ते[8] च तस्मिन्क्षणे मानसे चोपदर्शितं विषयं प्रतिपद्य धर्मदेशनादिकामर्थक्रियामासादयन्तीत्यनवद्यम्। अथ व्यापारवति चक्षुषि किमिति मानसोत्पत्तिर्लुप्यत इत्याह[9] व्यापारवतीत्यादि (10.21) सर्वेन्द्रियाश्रितं

---

1) MS. बाह्याद्व विज्ञेया.

2) MS. व्याख्यातः.

3) MS. चक्षुविषय°.

4) MS. चक्षुवि°.

5) MS. °विषयनो°.

6) MS. स्वविषयातन्तर.

7) Ожидали бы कथं प्राप्नोति.

8) MS. तेन.

9) MS. लुप्यतेत्याह.

ज्ञानं चक्षुर्विज्ञानमेव न मानसस्योत्पत्तिरस्तीत्यभिप्रायः । ननु व्यापारवति चक्षुषि प्रथमे क्षण इन्द्रियविज्ञानं भवति द्वितीये क्षणे मानसं भवति यद्यपि समानजातीययोर्युगपदुत्पत्तिर्नास्तीत्याह । इतरथेत्यादि (10.22) । एवं मन्यते । व्यापारवति चक्षुषि किमितीन्द्रियविज्ञानं नोत्पद्यते द्वितीये क्षणे योग्यकरणे सति समानरूपं । तेन तयोः कथमिन्द्रियविज्ञानव्यपदेशो न स्यादिति । ननु च यदि मानसं प्रत्यक्षं इन्द्रियज्ञानाद्भिन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवेत्तदा तस्य लक्षणं यावता प्रमाणसिद्धमेव नास्तीत्याह । एतच्चेत्यादि (11.1) । एवंजातीयकमितीन्द्रियविज्ञानसदृशं तदेतद्धर्मोत्तरेणागमसिद्धं दर्शयताचार्यज्ञानगर्भप्रभृतीनां[1] मानससिद्धये यत्प्रमाणमुपन्यस्तं विकल्पोदयादिति तद्भङ्गावधारणादेव दूषितम् । तैरेवं व्याख्यातं । व्यापारवति चक्षुषीन्द्रियज्ञानमुत्पद्यते मानसं च । न शक्यते वक्तुं द्वयोर्युगपदुत्पत्तिर्नास्तीति । यतः समानेन्द्रिययोर्नास्ति । न भिन्नेन्द्रिययोः । षण्णां युगपदुत्पत्तिरिति वचनात् । ततश्च द्वयोर्भिन्नेन्द्रिययोर्युगपदुत्पत्तिः । न च तत्र भेदेनानुपलभ्यमानं मानसं नास्तीति शक्यते वक्तुं । समानजातीयनीलविकल्पोदयात् । यदि च तत्र मानसं स्यात्तत्पृष्ठभावी नीलविकल्पो न स्यादेव । समानाद्धि मानसात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्भवति न विजातीयादिन्द्रियविज्ञानादिति । यथा देवदत्तेन नीले गृहीते न यज्ञदत्तस्य नीलनिश्चयो भवति । तथेन्द्रियविज्ञानमनोविज्ञानसंतानयोर्भिन्नत्वात् । न तथा मानसमनोविकल्पसंतानयोर्भिन्नसंतानत्वम् । द्वयोरप्यनिन्द्रियत्वात् । मनोव्यपदेशाच्चेति । अत्रोच्यते । यदुक्तं तावत्समानजातीयविकल्पोदयादिति तत्सिद्धौ[3] यत्साधनं तदनैकान्तिकम् । विजातीयादप्युत्पत्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकोभ्याम् । न च व्यापारवति[4] चक्षुषि मानसस्योत्पत्तिरस्ति । न च द्वयो[5]र्नीलविज्ञानयोरुत्प-

1) MS. °प्रवृत्तीना.

2) MS. द्वयोभिन्न°.

3) MS. пропущено слово यत्.

4) MS. व्यापारवती.

5) MS. द्वयोनील°.

त्तिर्निर्विकल्पयोर्दृश्यते[1] अनुपलभ्यमानत्वात्तयोः । तेनेन्द्रियविज्ञानादेव विजातीयाद्वि-कल्पकस्योत्पत्तेर्न विकल्पस्योदयादिति मानससिद्धौ हेतुः । न च देवदत्तयज्ञदत्तयोरिव भिन्नसंतानवर्तित्वं सविकल्पकनिर्विकल्पकयोः । येन भिन्नसंतानान्निर्विकल्पकादुत्पत्तिर्न स्यादेकसंतानपातित्वात्तयोरवश्यं चाङ्गीकर्तव्या विजातीया विकल्पस्योत्पत्तिर्येन वार्तिककार एवमाह ।

तद् दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्वव्यापारत्वकरणात्[2]स्मरणादित्यादि

संविच्छब्देनेन्द्रियविज्ञानमेवोच्यते न मानसम् । ततश्च तत्सामर्थ्यभावि कथं विकल्पविज्ञानं स्मरणं[3] विजातीयत्वात् । न च तत्र मानसं संविदुच्यत इन्द्रियविज्ञानस्य व्यवहारेण, प्रामाण्यस्य[4] चिन्त्यत्वात्[5] । किं चेन्द्रियविज्ञानस्य कथं प्रामाण्यं, यदि स्वव्यापारं करोति । स्वव्यापारस्तु स्वविषये विकल्पजनकत्वं नाम । ततश्च विजातीयादपि विकल्पस्योदयादिति यत्किंचिदेतत् ।

ननु **चित्तचैत्ता** इति वक्तव्ये सर्वग्रहणस्य व्यावर्त्याभावादपार्थकं तद्ग्रहणमित्याह **सुखादय एवेत्यादि** (11.6) । न केवलं प्रसिद्धाः सुखादयः चित्तचैत्ता स्वसंवेदना गृह्यन्ते, अन्येऽपि स्वसंवेदना इति तात्पर्यम् । अमुमेवार्थं दर्शयति, **नास्तीत्यादिना** (11.7) । शुद्धस्य[6] चित्तावस्थारूपस्यासंवेदितस्याभावमाहेति भावः । एवं ब्रुवता टीकाकृतानेन निरोधसमापत्त्यवस्थायां शुद्धचित्त[7]भाव एवेत्यभिप्रायः प्रदर्शितः, तस्यामवस्थायां न काचि-

1) MS. °विकल्पयोदृश्यते.
2) MS. स्वव्यापारकरणात्.
3) MS. स्मर्णां.
4) MS. प्रमामयस्य.
5) MS. चित्यत्वात्.
6) MS. सूत्रस्य.
7) MS. सूत्रचित्ता°.

च्चित्तावस्था संवेद्यते यतः। ननु चित्तचैत्ता नामात्मसंवेदनं नास्ति स्वात्मनि कारित्वविरोधादित्युक्तमित्याह येन हीत्यादि (11.8)। यस्मादनेन बोधस्वरूपेणात्मस्वरूपं[1] वेद्यते तत्प्रत्यक्षम[2]ात्मसंवेदनमुच्यते । एवं मन्यते । यथा प्रदीपः प्रकाशतया स्वरूपं निवेदयन्नात्मप्रकाशने न प्रदीपान्तरमपेक्षते तथा चित्तादिकमपि[3] संविद्रूपतया स्वरूपं निवेदयन्नात्मसंवेदने न ज्ञानान्तरमपेक्षते । न च स्वात्मनि कारित्वविरोधो यतो वास्तवकारकत्वभावः[4]। अत्रापि कल्पनया प्रकाश्यप्रकाशकत्वेन कर्मकर्तृभावः। तत्रापि नीलाकारोत्पत्तिरेव प्रकाशकत्वं ज्ञानस्य प्रदीपस्यापि प्रागभावित्वमेव । प्रकाशकत्वं कल्पनापरो व्यापारः। बोधस्य तु बोधरूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्। ततश्च विज्ञानं बोधरूपतया प्रत्यक्षेणानुभूयमानं कथमपह्नूयते[5] भवता परोक्षं विज्ञानमिति । एवं तावन्मीमांसकादीन्प्रति विज्ञानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षं निर्दिष्टम्। यस्तु सांख्यो ऽपि बाह्यरूपाः सुखादय इति मन्यते[6] तं प्रत्याह ' इह च रूपादौ दृश्यमान (11.9) इत्यादि। एवं मन्यते। नीलरूपात्सातादिकमन्तरं[7] संवेदनं प्रत्यक्षेणानुभूयमानं न बाह्येनाभिन्नरूपं[8] जडरूपं च शक्यते वक्तुमिति। अमुमेवार्थं न च गृह्यमानाकार (11.9—10) इत्यादिना दर्शयति। साक्षात्कारित्वव्यापार इति प्रत्यक्षस्य व्यापारः। विकल्पस्तत्पृष्ठभावी। न च[9] नीलस्य सातरूपत्वमनुगम्यत (11.13) इति तत्पृष्ठभाविना विकल्पेन सातरूपो

---

1) MS. स्वरूप.

2) MS. तत्पक्षमा°.

3) MS. चित्तादिकमपि.

4) MS. कारत्वाभावः.

5) MS. °मपह्नुयते.

6) MS. मन्यंते.

7) MS. °त्सातादिंकतंर.

8) MS. वाह्यनाभिन्न°.

9) MS. пропускаетъ слова न च.

नीलादिर्नानुगम्यत इत्यर्थः[1] । तेन[2] नीलादिः सातस्वभावो न प्रत्यक्षसिद्ध इति सांख्यं निराकुर्वता ग्राह्यग्राहकं सातादिरूपं भिन्नं प्रत्यक्षं प्रदर्शितम् । तेन युक्तमुक्तं[3] कैश्चित् ' ग्राह्याद्भिन्नं ग्राहकं न प्रत्यक्षेणानुभूयत इति तेन किंचिन्नाम नापकृतं भवतीत्युक्तम् ' तस्मात्सर्वाण्येतानि चित्तचैत्तानि स्वसंवेदनप्रत्यक्षाणीति । तेषां लक्षणं[4] योजयति तच्चेत्यादिना (11.14) । तत्प्रत्यक्षं स्वसंवेदनरूपं निर्विकल्पकं तत्र शब्दादियोजनाभावात् । कुतः । शब्देन संकेताभावात् । अभ्रान्तं च तद्विज्ञानं स्वरूपे ऽविपर्यस्तत्वाद् बाधकाभावाच्चेति ।

भाव्यमानार्थाभासस्येति (11. 19) क्षणिकत्वादिग्राहिणः । स्फुटाभत्वारम्भे[5] (11. 20) इत्याद्यतिशयस्योपक्रमात्ततः परेणातिशयाभावाज्ज्ञानस्य । ततश्च क्षणिकत्वादिग्राहि मनोविज्ञानं भाव्यमानमीषदसंपूर्णमक्षक्षणः प्रकर्षपर्यन्त उच्यते । तदेव दर्शयति यदा स्फुटाभत्वमित्यादिना[6] (11. 20) । तदिह स्फुटाभत्वारम्भे (12. 1) त्यादिनोपसंहारव्याजेन योगिनो मनोविज्ञानस्यावस्थात्रयं दर्शयति[7] । भावनाप्रकर्षावस्थैका[8] ' प्रकर्षपर्यन्तावस्था द्वितीया ' भाव्यमानस्य करतलामलकवद्दर्शनं योगिनः तृतीयावस्थेति । तद्धि स्फुटाभमित्यादिना (12. 3) योगिनो मनोविज्ञानमपि स्फुटाभत्वादेवेन्द्रियविज्ञानवन्निर्विकल्पकं दर्शयति ।

निर्विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थः[9] प्रतिभासते ।

---

1) MS. °नुगम्यतेत्यर्थः
2) MS. वेत (?).
3) MS. युमुक्तं.
4) MS. स्वलक्षणं.
5) MS. स्फुटाभवत्व°.
6) MS. °मित्यादिन.
7) MS. दर्शयिति.
8) MS. °षावस्थेका.
9) MS. स्पष्टार्थं.

इति न्यायाद्यद्यपि[1] मनोज्ञानेन भावनाप्रकर्षपर्यन्तजेन शब्दार्थौ[2] युगपद्गृह्येते तथापि द्वयोः स्वरूपस्य सन्निहिततया गृह्यमाणत्वात्तद्ग्राहि विज्ञानं निर्विकल्पकमिति। ननु च मनोविज्ञानं भाव्यमानं वाच्यवाचकसंसृष्टं प्रतिभासते[3] यथा तथैव भाव्यमानं प्रकर्षपर्यन्तजं मनोविज्ञानं वाच्यवाचकप्रतिभासि स्फुटाभं भवति। तदा स्फुटाभत्वान्निर्विकल्पकोऽयमित्यनैकान्तिको हेतुरिति यच्चोदितं परेण तत्परिहर्तुमुपक्रमते विकल्पविज्ञानं हीत्यादिना (12. 3—4)। एवं मन्यते। यद्यपि मनोविज्ञानं वाच्यवाचकसंसृष्टप्रतिभासि तथापि स्फुटाभत्वावस्थायां[4] तदलीकाकारं वाच्यवाचकरूपमपैति। वित्तिरूपं तु तस्य निजम्। अतस्तदेव चिद्रूपं ज्ञानं स्फुटं भवति। न वाच्यवाचकाकारतया। तयोरारोपितरूपत्वात्। आरोपितरूपग्रहणास्फुटत्वमेव न स्यादिति नानैकान्तिकत्वं हेतोः। स्फुटाभत्वादित्यस्य[5]। यदा तु विकल्पविज्ञानं शब्दसंसर्गयोग्यवस्तु गृह्णाति तदा संकेतकालदृष्टत्वेन तद्वस्तु गृह्णाति। तदसंनिहितं[6]। तदा तस्य[7] संकेताभावात्। तच्च पूर्वदृष्टं पूर्वविज्ञानस्य विषयः। तच्च पूर्वविज्ञानं संप्रति शब्दसंसर्गयोग्यवस्तुग्रहणकाले नास्ति क्षणिकत्वाज्ज्ञानस्य। तद्वत्पूर्वविज्ञानविषयत्वमपि संप्रति नास्ति विषयिणो[8] ज्ञानस्याभावे विषयस्याप्यर्थस्य संकेतकालभाविनो ऽभाव इत्यसंनिहितं संकेतकालभावि तद्वस्त्वारोप्य[9] गृह्णद्विकल्पविज्ञानमस्फुटं[10] भवतीति। स्फुटत्वं ततो निवृत्तं निर्विकल्पे ऽवतिष्ठत इति

---

1) MS. °द्यद्यापि.
2) MS. शब्दार्थो.
3) MS. प्रतिभासति.
4) MS. स्फुटभवत्वा°.
5) MS. स्फुटभवत्वादित्यस्य.
6) MS. तदसत्संनिहितं.
7) MS. तदा तया.
8) MS. विषयणो.
9) MS. तं वस्त्व°.
10) MS. गृह्णा विक°.

व्याप्तिः सिद्ध्यति । ततः स्फुटत्वान्निर्विकल्पकं योगिज्ञानमभ्रान्तं च प्रमाणेन शुद्धार्थग्राहित्वात्संवादकम् । इयदेवेति (12. 9) इन्द्रियविज्ञानादारभ्य योगिज्ञानपर्यन्तं नैकमेवेन्द्रियप्रत्यक्षमित्यर्थः । नाप्यधिकमधिकस्यानुपलम्भात् ॥

प्रकारभेदमिति (12. 11) प्रत्यक्षं सामान्यं निर्विकल्पकमभ्रान्तं ' तस्य प्रकारभेद इन्द्रियज्ञानादिः । तं प्रतिपाद्येत्यर्थः । विषयविप्रतिपत्तिमिति (12. 11—12) । इह केश्चिन्मीमांसकादिभिः प्रत्यक्षस्य सामान्यविशेषौ द्वावपि विषयौ कल्पितौ । अनुमानस्य सामान्यमेव विषयः ' न विशेषः । सांख्येन द्वयोरपि विशेषो[1] विषय इष्टः ' सामान्यस्याभावात् । वेदान्तवादिना च सामान्यमेव विषयो[2] द्वयोः ' आत्माद्वैततया सर्वस्यैकत्वाद्विशेषे भ्रान्तत्वाद्द्वयोरिति विप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिविषये । स्वलक्षणमि (12. 14) त्यनेनेष्टं विषयं दर्शयति । तत्त्वमि(12. 15)त्यर्थक्रियाकारि । अनेन लक्षणशब्दो विवृतः । लक्ष्यते दाहाद्यर्थक्रिया[3] येन तल्लक्षणम् । एतद्दर्शयति । असाधारणमेव तत्त्वं[4] वस्तुनो रूपम् । साधारणं तु तत्त्वमारोपितं रूपं पूर्वापरक्षणानामभेदाध्यवसायात् । अतो वस्तुनो रूपद्वयमसाधारणं सामान्यं च । तत्रासाधारणतत्त्वं प्रत्यक्षस्य ग्राह्यविषय[5] इति दर्शयति यदसाधारणमित्यादिना[6] (12. 16) । ननु किमुच्यते ग्राह्यविषय इति[7] यावता किमन्यो विषयोऽस्ति प्रत्यक्षस्य । अस्तीत्याह ' द्विविध (12. 16) इत्यादि । यमध्यवस्यतीति[8] यं संतानरूपेण स्थितमर्थं तत्पृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चिनोति । ननु च कथं प्रत्यक्षस्य संतानो विषयो यतो विकल्पस्यासौ विषयः । उच्यते । उपचारात् ।

---

1) MS. विशेषे.
2) MS. विषयं द्वयोरा°.
3) MS. दाधाद्यर्थ.
4) MS. ततु.
5) MS. विषयमिति.
6) MS. तदसाध°.
7) MS. विषयमिति.
8) MS. यमध्यवश्यतीति.

प्रत्यक्षव्यापारेण विकल्पेनाध्यवसेयतया[1] विषयीकृतत्वात्प्रत्यक्षविषय इत्युच्यत उपचारादित्यदोषः। द्वैविध्यमेव स्फुटयत्य् अन्यो हीत्यादिना (12. 17)। तथानुमानमित्यादिना (12. 19) प्रसङ्गेनानुमानस्यापि विषयद्वैविध्यं दर्शयति। स्वलक्षणत्वेनावसीयत (12. 20—21) इति दाह्याद्यर्थक्रिया[2]समर्थत्वेनावसीयत इत्यर्थः। तदत्रेत्यादिना[3] (12. 22) प्रमाणचिन्तायां ग्राह्यविषयदर्शनो ऽयं ' न प्राप्यं विषयमिति दर्शयति। ग्राह्य एव विषये सर्वेषां विप्रतिपत्तेः।

कः पुनरसौ विषय (12. 23) इत्यादि। एवं मन्येत। ननु प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषय इत्युक्ते सामान्यमपि तस्य विषय[4] इति तदपि स्वलक्षणं प्राप्नोतीति प्रश्नः। असंनिधानं दूरदेशावस्थानमिति (13. 3) ब्रुवता विनीतदेवस्य व्याख्या दूषिता। तेन ह्येवं व्याख्यातं ' सर्वेण रूपेण वस्तुनो ऽभावो ऽसंनिधानमिति। एतदसंगतं ' यस्माद्वस्तुनः तत्राभावे ज्ञानमेव न भवति। ततश्च ज्ञानप्रतिभासभेद इति न घटते। यो ही(13. 4)त्यादिनैतद्दर्शयति। अर्थक्रियासमर्थस्यैव संनिधानासंनिधानाभ्यां स्फुटास्फुटप्रतिभासभेदो न सामान्यस्येति[5]। न सामान्यं स्वलक्षणम्। आरोपितरूपस्य दूरासन्नाभ्यां सर्वदैवास्फुटत्वादिति[6]। ननु[7] सामान्यमेव दूरे[8] गृह्यमाणमस्फुटप्रतिभासं न स्वलक्षणमित्याह ' सर्वाण्येवेत्यादि[9] (13. 6) सामान्यस्याविद्यमानत्वादित्यभिप्रायः। अतः तान्येव स्वलक्षणानि (13. 6—7) स्फुटास्फुटप्रति-

---

1) MS. °पेनाव्यवसेयतया.
2) MS. दाह्याअर्थक्रिया.
3) MS. तत्रेत्यादिना.
4) M. विषयमिति.
5) MS. समान्यस्य.
6) MS. °स्फटत्वादिभिर्न.
7) MS. न तु.
8) MS. दूरा°.
9) MS. सवमयेवे°.

भासीनि ' न सामान्यम् । ननु यदि दूरासन्नाभ्यां स्वलक्षणं स्पष्टास्पष्टप्रतिभासं रूपद्वयं तस्य[1] स्यात् ' ततश्च निकट[2]स्थितस्य प्रतिभासद्वयं स्यात् ' न च नियमो दूरे ऽस्पष्टं निकटे स्पष्टमिति । उच्यते ' न हि नीलं[3] वस्तु स्पष्टरूपमस्पष्टं च ' अपि तु नीलं साध्यार्थक्रियासमर्थं नीलपरमाणुरूपम् । स्पष्टास्पष्टाकारौ चोपाधिकृतौ । यदा दूरे नीलं पश्यति तदालोकपरमाणूनां[4] च रजःपरमाणुभिरभिभूतत्वात्स्पष्टप्रतिभासं ज्ञानं भवति । निकटे तु आलोकपरमाणूनां बहुत्वान्न ते रजःपरमाणुभिरभिभूता इति स्पष्टप्रतिभासं ज्ञानं जायते । ज्ञानस्य स्पष्टादिद्वारेणार्थस्य स्पष्टा[5]स्पष्टरूपे भवतो न परमार्थत इति । सामान्यस्य तु ज्ञानद्वारेण न स्पष्टास्पष्टरूपे । तेन न तत्स्वलक्षणम् । ननु तस्य विषयः स्वलक्षणमित्युक्तं ' तत्र यदि प्रत्यक्षस्यैव विषयो भवति स्वलक्षणं नान्यस्येति तदानुमानादेर्न स्वलक्षणविषयः । किं तु ' प्रत्यक्षस्यान्यो विषयः स्यात् । अथ प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणं विषयो नान्यः । तदानुमानस्य स्वलक्षणं विषयो न निषिद्ध[6] इति स्वलक्षणविषयमनुमानं स्यादिति मन्यमानः पृच्छति । **कस्मात्पुनरि** (13. 8) त्यादिना नानुमानस्य । विकल्पस्य विषयो वास्तवो न भवति । कथं स्वलक्षणं भवतीत्याह ' **तथा हीत्यादि** (13. 8) । यद्यपि विकल्पस्य विषयो[7] वस्तु न भवति तथापि स एव स्वलक्षणं ' दाहाद्यर्थक्रियारूपेण व्यवसायादित्यभिप्रायः ।

तदेव (13. 11) परमार्थसदिति । एवं मन्यते । न ह्यारोपबलादवस्तु वस्तु भवति ' सर्वस्य शशविषाणा[8]देर्वस्तुत्वप्रसङ्गात् । वस्तु तदेवानुपचरितस्वरूपं ' अतः

---

1) MS. °भासरूपं द्वय.
2) MS. विकट.
3) MS. न ह्रो नीत वस्तु.
4) MS. परमाणुनां.
5) MS. °द्वारेणार्थस्पष्ट°.
6) MS. निषद्ध.
7) MS. विषयं.
8) MS. सविषाणा°.

तदेव स्वलक्षणम्[1]। ननु विकल्पविषयोऽप्यर्थः परमार्थसन्नेव। इदमेव परमार्थसत्त्वं नाम यदुत ज्ञाने प्रतिभासनम्। सामान्यमपि [2]ज्ञाने प्रतिभासते तदपि परमार्थ[3]सदिति मन्यमानः पृच्छति। **कस्मात्पुनस्तदेव परमार्थसदिति** (13. 14)। **अर्थ्यत** (13. 16) इत्यादिनार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वपदस्यार्थं विवृणोति। **तदयमर्थ** (13. 18—19) इत्यादिना समुदायस्य पदानां तात्पर्यं दर्शयति। एवं मन्यते। यस्मादर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्, तस्मान्न सामान्यं परमार्थसत्। दाह्या[4]द्यर्थक्रियायामनुपयोगात्। न च प्रतिभासबलात्तत्त्वमसद्रूपस्याप्यविद्याबलप्रतिभासनात्। न च ज्ञानजनकत्वेनार्थक्रियाकारित्वं, तस्य ज्ञानस्य विनापि सामान्येन वासनाबलात्सामान्यविषयस्योत्पत्तेरिति।

एतस्मादि(14. 4)त्यादिनानुमानस्य विषयं दर्शयति। **तथाहीत्यादिना** (14. 6) प्रत्यक्ष[5]विषयेण सह विकल्पविषयस्य सामान्यस्य विसदृशत्वं दर्शयति। कथं पुनर्विकल्पस्य विषयो भवति सामान्यमित्याह, **समारोप्यमाणमिति** (14. 9) सकलवह्निसाधारणतया सामान्याकारस्य संवेद्यत्वादित्यभिप्रायः। **सोऽनुमानस्य विषयो** (14. 12) **ग्राह्यरूप** इति, ग्राह्यं रूपमस्येति बहुव्रीहिः। अत्रापि ग्राह्यापेक्षया विषयो व्यवस्थापितो न प्राप्यापेक्षया, तत्राविप्रतिपत्तेः। ननु तत्सामान्यमिति नपुंसकलिङ्गं प्रस्तुत्य स इत्यनेन पुंल्लिङ्गेन परामर्शः कथमित्याह, **सर्वनाम्नेत्यादि** (14. 11)। कस्मात्पुनः प्रत्यक्षपरिच्छेद अनुमानस्य विषयविप्रतिपत्तिर्निराकृता वार्तिककारेण नानुमानपरिच्छेद इत्याह, **सामान्यलक्षणमित्यादि** (19. 9—10)। एवं

---

1) MS. लक्षणं.

2) MS. सामान्यपिज्ञानं.

3) MS. परमार्थः सदिति.

4) MS. दोह्लदाह्याद्य°.

5) MS. व्यक्तविषयेण.

मन्यते। यद्यनुमानपरिच्छेदे ऽनुमानस्य विषयो व्यवस्थाप्येत तदा तत्रैव यत्नः कर्तव्यः स्यात्। को ऽसौ वानुमानस्य विषयः, प्रत्यक्षविषयादन्यः, प्रत्यक्षस्यैव को ऽसौ विषयो यदपेक्षयायमन्यः पुनर्वक्तव्यं स्वलक्षणमित्येवमावर्त्यमाने गौरवं स्यात्। ततो[2] लाघवार्थं (14. 14) अत्रैवकथितमिति।

फलविप्रतिपत्तिं निराकर्तुमाहेति (14. 15)। कथं प्रमाणस्य फले विप्रतिपत्तिः। तथाहि प्रमाणं करणं प्रमितिक्रियां विना न भवति यथा छित्तिं विना न परशुः। ततश्च प्रमाणात्करणात्पृथक्फलेनार्थसंप्रवृत्तिलक्षणेन भवितव्यं, स्वात्मनि क्रियाकरणत्वविरोधात्। न हि परशुरेव छित्तिरिति। अतो मीमांसकेनेन्द्रियं प्रमाणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, मनइन्द्रियसन्निकर्षः, आत्ममनः[3] सन्निकर्षश्चेष्टः, सर्वे सन्निकर्षाश्चेति[4]। तदुक्तम्।

यदेन्द्रियं प्रमाणं स्यात्तस्य चार्थेन संगतिः।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना[5] सर्व एव वा॥

इत्यर्थावबोधः फलं तत्र व्यापाराच्च[6] प्रमाणतेति।

तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता।
व्यापारो न[7] यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलमिति[8]॥

---

1) MS. त्रैवं.

2) MS. अतो.

3) MS. आत्मनः.

4) MS. सन्निकर्वश्च.

5) °र्योगात्मना सर्व एवेति.

6) MS. प्रमाणेनेति.

7) MS. ना.

8) Cp. Çlokavārt., pratyakṣasūtra, 60—61.

तथा पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलमिति चोक्तम् । तत्रापि बुद्धिजन्म प्रमाणं प्रवृत्त्यादिकं फलमिति । तथा नैयायिकादयो ऽप्येवंभूतमेव प्रमाणफलमिच्छन्ति । इदं त्वधिकं । विशेषणज्ञानं प्रमाणं विशेष्यज्ञानं फलमिति यथोक्तं कुमारिलेन[1] ।

प्रमाणफलते बुद्ध्योर्विशेषणविशेष्ययोः ।
यदा तदापि पूर्वोक्ता भिन्नार्थत्वनिवारणेति ॥

तदेषां विप्रतिपत्तिः । तां निराकर्तुमाह । तदेवेति (14.17) । कथं पुनरर्थपरिच्छित्तिरूपं प्रमाणस्य फलं नार्थप्रवर्तकादि विज्ञानमित्याह । अर्थस्येत्यादि (14.20) । एवं मन्यते । येन फलेन निष्पन्नेनानन्तरेण प्रमाणस्य करणत्वव्यपदेशो भवति तदेव फलं । नान्यत् । अर्थपरिच्छेदकत्वेन विज्ञान उत्पन्ने स्वविषयनिश्चयजनकत्वे सति समाप्तो ज्ञानस्य प्रमाणव्यापार इति । अर्थपरिच्छित्तिरेव फलं न प्रवर्तकादिकम् । अमुमेवार्थं दर्शयत्येतदुक्तमित्यादिना (14.21) । प्रमाणादर्थपरिच्छित्तिरूपस्य फलस्य भिन्नत्वं[1] दर्शयितुं प्रमाणज्ञानस्य स्वरूपं प्राग्दर्शितमपि पुनरपि दर्शयति प्रापकं ज्ञानमित्यदिना (14.21) । एवं मन्यते । यस्मात्प्रापकं विज्ञानं प्रमाणमिष्टमस्माभिः तस्मात्सा च प्रापणशक्तिर्[2]अर्थपरिच्छित्तिरेव नार्थादुत्पत्त्यादि[3]कमिति । एतदेव दर्शयति प्रापणशक्तिरित्यादिना (14.21) । कस्मादर्थाविनाभावित्वमात्रमेव प्रापणशक्तिर्न भवतीत्याह बीजादीत्यादि (15.1) । यतो बीजादेः सकाशादङ्कुरस्यार्थावभासित्वोत्पत्ति[(4)]रस्ति न च बीजादिकं प्रापयति खलबिलान्तर्गतस्यापि बीजस्याङ्कुरोत्पादकत्वादित्यभिप्रायः । तस्मादित्यादिना (15.1) ज्ञानस्यार्थादुत्पत्तिव्यापारादन्य एव प्रमाणव्यापार

1) MS. यथोक्तमुचेकेन (?); приводимые стихи находятся въ Çlokavārt., pratyakṣasūtra 70, съ варіантомъ निराक्रिया вмѣсто निवारणा.

2) MS. भिनत्वं.

3) MS. °रर्थापरिच्छि°.

4) MS. °डुत्पत्यादिक°.

5) MS. °भासित्वप्रत्ति°.

इति दर्शयति । पूर्वापरयोः[1] क्षणयोरेकत्वाध्यवसायात्[2]प्राप्यादुत्पत्तावित्युक्तं स एवेति (15.3) प्रमाणव्यापारः । यद्येवं प्रापणाशक्तिः फलं तर्हि नार्थपरिच्छित्तिरूपं फलम् । प्रापकत्वादर्थपरिच्छित्तेरन्यत्वादित्याह ' उक्तं च पुरस्तादित्यादि (15.3—4) । यदेव प्रापकं ज्ञानं तदेव प्रवर्तकमर्थप्रदर्शकं च तदेवेति पुरस्तात्संवर्णितं प्रमाणस्वरूपचिन्तायाम् । ततश्चार्थप्रदर्शकमेव प्रापकं तस्य च प्रापणशक्तिरर्थपरिच्छित्तिरेव तावता परिसमाप्तत्वात्प्रमाणव्यापारस्येति स्थितम् । प्रमाणस्य फलमर्थपरिच्छित्तिरूपमेव ' नान्यदिति ।

यदि ज्ञानस्य प्रमितिरूपं फलं ज्ञानात्तर्हि[3] प्रमाणेन भिन्नेन भवितव्यमिति मन्यमानः पृच्छति ' यदि तर्हीत्यादिना[4] (15.6) । अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणमिति (15.7) ' एतस्य विवरणं ' अर्थेन यत्सारूप्यमित्यादि (15.8) । एवं मन्यते । अर्थसारूप्यं विज्ञानस्य प्रमाणं नेन्द्रियादिकमिति । विषयादुत्पद्यमानं विषयसदृशं भवतीति तदेव सारूप्यं सादृश्यमुक्तमिति दर्शयति ' इह यस्मादित्यादिना (15.8) । ननु चेत्यादि (15.11) । एवं मन्यते परः । इन्द्रियादिकं प्रमाणमुक्तमस्माभिः ' तदेव किं बौद्धेनापि नेष्यते येनार्थसारूप्यं प्रमाणमिष्यते । किं चार्थसारूप्ये[5] प्रमाणे ऽङ्गीक्रियमाणे प्रमाणफलयोरैक्यान्नैकं कर्म करणं भवतीति यच्चोदितं तत्तदवस्थमेवेति । तद्वशादित्यादि (15.14) । एवं मन्यते । प्रमाणं करणं च साधकतमं कारकाणाम् । प्रकृष्टोपकारकं[6] ज्ञानस्य सारूप्यमेव तद्वशादर्थाधिगतिसिद्धेः ' नेन्द्रियादिकं ' अर्थसारूप्याभावे ऽर्थप्रतीतेरभावादिति । अमुमेवार्थं दर्शयति । अर्थस्य प्रतीतिरवबोध (15.14—15) इत्यादिना । नीलनिर्भासं हीत्यादिना (15.16) नीलाकारं नीलविज्ञानस्य नीलावगमव्यवस्थाया निमित्तं दर्श-

1) MS. पूर्वापरर्योः.
2) MS. °त्वाव्यवसायात्.
3) MS. ज्ञानातर्हि.
4) MS. यदि तर्हात्या°.
5) MS. किं वार्थ°.
6) MS. प्रष्टोपकारकं.

यति। यस्मान्नीलाकारे विज्ञानस्यावगते नीलप्रतीतिरवगम्यते तस्मादर्थाकारः प्रमाणं करणधर्मत्वादस्येति। ननु च चक्षुरादिभ्यो विज्ञानमुत्पद्यते विशिष्टार्थमवगच्छत्येव। तत्कथमर्थाकारस्य प्रकृष्टोपकारकत्वमित्याह' येभ्यो हीत्यादि (15. 17)। तत्कथयति चक्षुरादीनामपि विज्ञानोत्पत्तौ निमित्ता[1]भावो ऽस्ति। किं तु तेषां सर्वज्ञानोत्पत्तिं प्रति निमित्तत्वा[2]न्न प्रतिनियतार्थव्यवस्थापनस्य निमित्तत्वम्[3]। अर्थाकारस्य त्वसाधारणत्वात्प्रतिनियतार्थव्यवस्थापनं प्रति निमित्तत्वमिति। तदेव प्रमाणम्। यत्तत्परेण चोदितं प्रमाणफलयोरैक्यान्न चैकं साध्यं साधनं वा स्यादिति तत्परिहरति। न चात्र जन्यजनकेत्यादिना (15. 18—19)। स्यादयमेकस्य वस्तुनो विरोधो यद्ययं जन्यजनकभावः प्रमाणफलयोः साध्यसाधनभावः' किं तर्हि व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावः। कुतो ज्ञानाधिकारात्। यस्माज्ज्ञाने विशिष्ट उत्पन्ने प्रतिपत्त्रा विशिष्टो ऽर्थो ज्ञाप्यते' न त्वर्थ[4] उत्पाद्यते। तथाहि[5] नीलाकारे[6] विज्ञान उत्पन्ने विशिष्टज्ञानं व्यवस्थापयन्ति नीलज्ञानमनुभूतमिति न ज्ञानमुत्पादयति। किंचिदि(15. 20)त्यादि[7]नैकस्यैव विज्ञानस्यांशांशितया व्यवस्थाप्यव्यवस्था[8]पकत्वं दर्शयति। ननु च निर्विकल्पकं ज्ञानं विशिष्टाकारमुत्पन्नं कथं तस्य समानकाल एवांशांशितया[9] व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावो भवतीति मन्यमान पृच्छति। व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकेत्यादिना (15. 22)। सदृशमित्यादि (15. 22—16. 1)। एवं मन्यते। न विज्ञानमेव निर्विकल्पकमात्मानं व्यवस्थापयति' किंतु प्रत्यक्षपृष्ठभाविना

---

1) MS. विज्ञानोत्तौर्निमि°.
2) MS. निमतत्वात्.
3) MS. निमितत्वं.
4) MS. नन्वर्थ.
5) MS. तथाह्वा.
6) MS. नीलाकाकारे.
7) MS. किंचित्यादिना.एक°.
8) MS. व्यवस्थाप्य अवस्था°.
9) MS. एवं सासितया.

निश्चयप्रत्ययेन व्यवस्थाप्यते । तत्र चार्थाकारस्य व्यवस्थापनहेतुत्वमसारूप्यव्यावृत्तिभेदेनार्थबोधतया व्यवस्थाप्यस्योत्पादेन वेदनस्य तु व्यवस्थाप्यत्वम् । निश्चयप्रत्ययस्तु व्यवस्थापक इति । अमुमेवार्थं दर्शयति । तस्मादित्यादिना (16. 3) । ननु नीलज्ञानमुत्पन्नं स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धं यदि निश्चयवशात्प्रमाणव्यवस्था लभ्यते[2] तदा युज्यते वक्तुं निश्चयप्रत्ययेन व्यवस्थाप्यत इति यावता निश्चयप्रत्ययं विनापि प्रमाणं भवत्येवेत्याह निश्चयप्रत्ययेनाव्यवस्थापितमित्यादि (16. 6) दर्शयति । यावत्प्रत्यक्षं स्वविषये स्वात्मनि निश्चयं नोत्पादयति न तावत्प्रमाणं भवति । आत्मव्यापारानिर्वर्तनात्[3] । ततश्चाध्यवसायं कुर्वदेव प्रमाणमिति (16. 7—8) निश्चयमपेक्षते । ननु यदि निश्चयं विना प्रमाणमेव न भवति प्रत्यक्षं विकल्पसङ्कितं तर्हि प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यान्न केवलं तदन्वयव्यतिरेकादिति मन्यमानश्चोदयति यद्येवमित्यादिना (16. 12) । नैतदेवम्[4] ।

---

1) MS. °त्वमात्प्रमा°.

2) MS. लभते.

3) MS. °रानिवर्त्तनात्.

4) MS. नैतदेव. Послѣ этого можно еще читать слова उपरतापरतप्रमाणे समाप्तकार्यो ह्नि.....समस्त क्र... послѣ чего рукопись прерывается.

УКАЗАТЕЛИ:

I. Именъ собственныхъ.

II. Цитированныхъ стиховъ.

I.

II.

CORRIGENDA.

		Напечатано:	Слѣдуетъ:
Стр.	19. 4—5	इति योगाचारमते । न तदप्य°	इति योगाचारमतेन । तदप्य°
»	24. 12	(1. 24)	(8. 24)
»	30. 13	°विकल्पा ने स्यादेव	°विकल्पो न स्यादेव
»	30. 18	°व्यतिरको°	°व्यतिरेका°
»	31. 1	°र्निर्विकल्पयो°	°र्निर्विकल्पकयो°
»	31. 3	°निर्विकल्पकयोः । येन	°निर्विकल्पकयोः ' येन
»	31. 4	°त्पत्तिर्न स्यादेक°	°त्पत्तिर्न स्यात् । एक°
»	32. 1	चित्तचैत्ता नामा°	चित्तचैत्तानामा°
»	35. 11	तत्व[4)]	तत्वं[4)]
»	36. 4	तदेत्रत्या°	तदत्रेत्या°
»	36. 7	मन्येत	मन्यते
»	40. 12	दर्थयितुं	दर्शयितुं

SANSKRIT — WÖRTERBUCH

bearbeitet von

Otto Böhtlingk

und

Rudolph Roth

St. Petersburg 1855-75

SEVEN VOLUMES

Reprinted together with

NACHTRÄGE von **Richard Schmidt, Leipzig 1928**

Also published in three volumes:

SANSKRIT—WÖRTERBUCH

in Kürzerer Fassung

von

OTTO BÖHTLINGK

St. Petersburg 1879-89

Hailed as "the greatest achievement of Indological scholarship in 19th-century Europe" (Basham), the Sanskrit-Wörterbuch by Otto Böhtlingk and Rudolph von Roth remains unsurpassed even more than a hundred years after its first publication, from 1852 to 1875, under the auspices of the Russian Imperial Academy of Sciences. Indeed, all the Sanskrit dictionaries published subsequently draw heavily from this "splendid monument of German diligence" (Winternitz).

Published by

MOTILAL BANARSIDASS

PUBLISHERS PVT. LTD.

Delhi